विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

वर्ष-२१
अंक-४

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर—नवम्बर—दिसम्बर

* १९८१ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ८)

एक प्रति २।)

आजीवन सदस्यता शुल्क—१००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

-।०।-

कवर चित्र परिचय—स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित

ग्राहकों को विशेष सूचना

१. जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा इस चतुर्थ अंक के साथ समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ८) मनीआर्डर द्वारा व्यवस्थापक, विवेक ज्योति कार्यालय, पो.—विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, ४९२-००१ (म.प्र.) के पते पर भेज दें। ग्राहकों की सुविधा के लिए साथ में मनीआर्डर फार्म संलग्न है। आपमें से जिनका चन्दा वर्ष के सभी अंकों के लिए जमा नहीं है, वे भी कृपया संलग्न मनीआर्डर फार्म में दर्शाया गया बकाया चन्दा भिजवा दें, जिससे १९८२ के सभी अंक नियमित रूप से आपको भेजे जा सकें।

२. विशेष ज्ञातव्य है कि 'विवेक-ज्योति' बिना पूर्व सूचना के वी.पी. द्वारा नहीं भेजी जायगी। अतएव जो ग्राहक वी.पी. से ही पत्रिका मँगाना चाहें, उनसे उस आशय का पत्र पाने पर ही पत्रिका वी. पी. द्वारा भेजी जा सकेगी, जो ११)५० की होगी।

३. 'विवेक-ज्योति' त्रैमासिक पत्रिका ग्राहकों को जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर के प्रथम सप्ताह में निश्चित रूप से डाक द्वारा भेज दी जाती है। जिन्हें पत्रिका न मिले, वे न मिलने की शिकायत कृपया सम्बन्धित महीने के अन्त तक हमारे पास अवश्य भेज दें।

४. हमें कई पत्र इस पत्रिका के न मिलने की शिकायत के आते हैं। हमें खेद है कि यहाँ से नियमित रूप से पत्रिका भेजने पर भी वह आप तक नहीं पहुँच पाती। इस सम्बन्ध में आप अपने सम्बन्धित डाकखाने में शिकायत कर दें। साथ ही यदि आप चाहते हों कि पत्रिका आप तक सुरक्षित पहुँचे, तब आप हमारे पास ४) अतिरिक्त भेज दें। हम प्रत्येक अंक रिकार्डेड डिलिवरी से आपके पास भेज देंगे।

५. पत्र लिखते या मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक-संख्या अथवा पूरे नाम का उल्लेख अवश्य करें।

व्यवस्थापक
'विवेक-ज्योति'

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १४] अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर [अंक ४

* १९८१ *

बन्धन का मूल कारण

सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः।
तेषामेकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकारः ॥

—पुरुष को इस संसार-बन्धन की प्राप्ति के कारणरूप और भी अनेक प्रतिबन्ध हैं; किन्तु उन सबका मूल अहंकार ही है, जो कि (अज्ञान का) प्रथम विकार है (क्योंकि अन्य समस्त अनात्मभावों का प्रादुर्भाव इसी से होता है)।

—विवेकचूडामणि, २९९

अंतिम-मंत्र

(श्रीमती मृणालिनी बसु को लिखित)

देवघर, वैद्यनाथ,

द्वारा बाबू प्रियनाथ मुकर्जी

२३ दिसम्बर, १८९८

माँ,

तुम्हारा पत्र पाकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। तुम जो समझी हो वह ठीक है। 'स ईशोऽनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपः'—ईश्वर अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है। नारद द्वारा वर्णन किया हुआ ईश्वर का यह लक्षण स्पष्ट है और सब लोगों को स्वीकार है, यह मेरे जीवन का दृढ़ विश्वास है। बहुत से व्यक्तियों के समूह को समष्टि कहते हैं और प्रत्येक व्यक्ति व्यष्टि कहलाता है। तुम और मैं—दोनों व्यष्टि हैं, समाज समष्टि है। तुम और मैं—पशु, पक्षी, कीड़ा, कीड़े से भी तुच्छ प्राणी, वृक्ष, लता, पृथ्वी, नक्षत्र और तारे ये प्रत्येक व्यष्टि हैं और यह विश्व समष्टि है, जो वेदान्त में विराट्, हिरण्यगर्भ या ईश्वर कहलाता है, और पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, देवी, इत्यादि।

व्यष्टि को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होती है या नहीं, और यदि होती है तो उसका नाम क्या होना चाहिए, व्यष्टि को समष्टि के लिए अपनी इच्छा और सुख का सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए या नहीं—ये प्रत्येक समाज के लिए चिरन्तन समस्याएँ हैं। सब स्थानों में समाज

इन समस्याओं के समाधान में संलग्न रहता है। ये बड़ी बड़ी तरंगों के समान आधुनिक पश्चिमी समाज में हलचल मचा रही हैं। जो समाज के आधिपत्य के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का त्याग चाहता है, वह सिद्धान्त समाजवाद कहलाता है और जो व्यक्ति के पक्ष का समर्थन करता है, वह व्यक्तिवाद कहलाता है।

समाज का व्यक्ति पर निरन्तर शासन तथा संस्था एवं नियमबद्धता द्वारा बलपूर्वक आत्मत्याग, और इसके परिणाम तथा फल का ज्वलन्त उदाहरण—यही हमारी मातृभूमि है। इस देश में शास्त्रीय आज्ञानुसार मनुष्य जन्म लेते हैं, वे नियम-विधि से आजीवन खाते-पीते हैं, और विवाह तथा विवाह-सम्बन्धी कार्य भी इसी प्रकार करते हैं, यहाँ तक कि शास्त्रों के नियमानुसार ही वे मरते भी हैं। एक विशेष गुण को छोड़कर यह कठिन नियमबद्धता दोषों से परिपूर्ण है। गुण यह है कि बहुत थोड़े यत्न से मनुष्य एक या दो काम अति उत्तम रीति से कर सकते हैं, क्योंकि कई पीढ़ियों से उस काम का दैनिक अभ्यास होता है। जो स्वादिष्ट शाक और चावल इस देश के रसोइया तीन मिट्टी के ढेले और कुछ लकड़ियों की सहायता से तैयार कर सकते हैं, वह और कहीं नहीं मिल सकता। एक रुपये मूल्य के बहुत ही प्राचीन समय के करघे-जैसे सरल यंत्र की सहायता से, पैर गढ़े में रखकर २०) गज की मलमल बनाना केवल इसी देश में सम्भव हो सकता है। एक फटा टाट और रेंडी

के तेल से जलाया हुआ मिट्टी का दिया—ऐसे पदार्थों की सहायता से केवल इसी देश में उद्भट विद्वान् उत्पन्न होते हैं। कुरूप और विकृत पत्नी के प्रति असीम सहनशीलता तथा दुष्ट और अयोग्य पति के प्रति आजन्म भक्ति, यह भी इसी देश में सम्भव है। यह तो हुआ उज्ज्वल पक्ष।

परन्तु यह काम वे लोग करते हैं, जिनका जीवन निर्जीव यंत्र के समान व्यतीत होता है। उनमें मानसिक क्रिया नहीं है, उनके हृदय का विकास नहीं होता, उनका जीवन स्पन्दनहीन है, आशा का प्रवाह बन्द है, उनमें इच्छा-शक्ति की कोई प्रबल उत्तेजना नहीं है, सुख का तीव्र अनुभव नहीं है, न प्रचण्ड दुःख ही उन्हें स्पर्श करता है; उनकी प्रतिभाशाली बुद्धि में निर्माण-शक्ति कभी हलचल नहीं मचाती, नवीनता की कोई अभिलाषा नहीं है, और न नयी वस्तुओं के प्रति आदर-भाव ही है। उनके हृदयाकाश के बादल कभी नहीं हटते, प्रातःकालीन सूर्य की छवि कभी उनके मन को मुग्ध नहीं करती। उनके मन में यह कभी नहीं आता कि इससे अच्छी भी कोई अवस्था हो सकती है; यदि ऐसा विचार आता भी है तो विश्वास नहीं होता, विश्वास होता है, तो उद्योग नहीं हो पाता। और उद्योग होने पर उत्साह का अभाव उसे मार देता है।

यदि यह निश्चित है कि नियम से रहने से प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, यदि परम्परा से चली आयी हुई प्रथा का कठोरता से पालन करना पुण्य है, तब बताइए कि वृक्ष

से बढ़कर पुण्यात्मा कौन हो सकता है, और रेलगाड़ी से बढ़कर भक्त और महात्मा कौन है ? किसने पत्थर के टुकड़े को प्रकृति का नियमोल्लंघन करते हुए देखा ? किसने गाय-भैंस को पाप करते हुए जाना ?

यंत्रचालित अति विशाल जहाज और महाबलवान् रेल का इंजन जड़ हैं, वे हिलते हैं और चलते हैं, परन्तु वे जड़ हैं। और वह जो दूर से नन्हा सा कीड़ा अपने जीवन की रक्षा के लिए रेल की पटरी से हट गया, वह क्यों चैतन्य है ? यंत्र में इच्छा-शक्ति का कोई विकास नहीं है। यंत्र कभी नियम का उल्लंघन करने की कोई इच्छा नहीं रखता। कीड़ा नियम का विरोध करना चाहता है और नियम के विरुद्ध जाता है, चाहे उस प्रयत्न में वह सिद्धि लाभ करे या असिद्धि; इसलिए वह चेतन है। जिस अंश में इच्छा-शक्ति के प्रकट होने में सफलता होती है, उसी अंश में सुख अधिक होता है और जीव उतना ही ऊँचा होता है। परमात्मा की इच्छा-शक्ति पूर्णरूप से सफल होती है, इसलिए वह उच्चतम है।

शिक्षा किसे कहते हैं ? क्या वह पठन मात्र है ? नहीं। क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन है ? नहीं, यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है। अब सोचो कि शिक्षा क्या वह है, जिसने निरन्तर इच्छा-शक्ति को बलपूर्वक पीढ़ी दर पीढ़ी रोककर प्रायः नष्ट कर दिया

है, जिसके प्रभाव से नये विचारों की तो बात ही जाने दो, पुराने विचार भी एक एक करके लुप्त होते चले जा रहे हैं; क्या वह शिक्षा है, जो मनुष्य को धीरे धीरे यंत्र बना रही है? जो स्वयंचालित यंत्र के समान सुकर्म करता है, उसकी अपेक्षा अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति और बुद्धि के बल से अनुचित कर्म करनेवाला मेरे विचार से श्रेयस्कर है। जो मिट्टी के पुतले, निर्जीव यंत्र या पत्थरों के ढेर के सदृश हों, क्या उनका समूह समाज कहला सकता है? इस प्रकार का समाज कैसे उन्नत हो सकता है? यदि इस प्रकार कल्याण सम्भव होता, तो सैकड़ों वर्षों से दास होने के बदले हम पृथ्वी के सबसे प्रतापी राष्ट्र होते, और यह भारत मूर्खता की खान होने के बदले, विद्या के अनन्त स्रोत का उत्पत्ति-स्थान होता।

तब क्या आत्मत्याग एक गुण नहीं है? बहुतों के सुख के लिए एक आदमी के सुख का बलिदान करना क्या सर्वश्रेष्ठ पुण्यकर्म नहीं है? अवश्य है, परन्तु बंगला कहावत के अनुसार 'क्या घसने-मांजने से रूप उत्पन्न हो सकता है? क्या धरने-बांधने से प्रीति होती है?' जो सदैव ही भिखारी है, उसके त्याग में क्या गौरव? जिसमें इन्द्रिय-बल न हो, उसके इन्द्रिय-संयम में क्या गुण? जिसमें विचार का अभाव हो, हृदय का अभाव हो, उच्च अभिलाषा का अभाव हो, जिसमें समाज कैसे बनता है—इस कल्पना का भी अभाव हो, उसका आत्म-त्याग ही क्या हो सकता है? विधवा को बलपूर्वक सती

करवाने में किस प्रकार के सतीत्व का विकास दिखायी पड़ता है ? कुसंस्कारों की शिक्षा देकर लोगों से पुण्यकर्म क्यों करवाते हो ? मैं कहता हूँ—मुक्त करो; जहाँ तक हो सके लोगों के बन्धन खोल दिये जायँ। क्या कीचड़ से कीचड़ धोया जा सकता है ? क्या बन्धन को बन्धन से हटा सकते हैं ? ऐसा उदाहरण कहाँ है ? जब तुम सुख की कामना समाज के लिए त्याग सकोगी, तब तुम भगवान् बुद्ध बन जाओगी, तब तुम मुक्त हो जाओगी, परन्तु वह दिन दूर है। पुनः, क्या तुम समझती हो कि अत्याचार द्वारा वह प्राप्त हो सकता है ? 'अरे, हमारी विधवाएँ आत्मत्याग का कैसा उदाहरण होती हैं ! बाल-विवाह कैसा मधुर होता है ! ऐसी कोई दूसरी प्रथा हो सकती है ? ऐसे विवाह में पति-पत्नी में प्रेम को छोड़कर अन्य कोई भाव हो सकता है !!' दबी आवाज से यह विलाप चारों ओर से सुनायी देता है। परन्तु पुरुषों को, जिन्हें इस अवस्था में प्रभुत्व प्राप्त है, आत्म-संयम की आवश्यकता नहीं ! दूसरों की सेवा से बढ़कर कोई गुण हो सकता है ? परन्तु यह तर्क ब्राह्मणों पर लागू नहीं है—दूसरे लोग उसे करें ! सच तो यह है कि इस देश में माता-पिता और सम्बन्धी अपने स्वार्थ के लिए, और समाज के साथ एक प्रकार का समझौता करके स्वयं को बचाने के लिए, अपनी सन्तान तथा दूसरों के कल्याण का निष्ठुरतापूर्वक बलिदान कर देते हैं और पीढ़ियों से चली आनेवाली ऐसी शिक्षा ने

उनके मन को ऐसा थोथा बना दिया है कि यह कार्य बहुत आसानी से हो जाता है। जो वीर है, वही सचमुच आत्मत्याग कर सकता है। कायर, कोड़े के डर से, एक हाथ से आँसू पोंछता है और दूसरे हाथ से दान देता है। ऐसे दान का क्या उपयोग? विश्वव्यापी प्रेम इससे बहुत दूर है। छोटे पौधों को चारों ओर से रूंधकर सुरक्षित रखना चाहिए। यदि एक व्यक्ति से निःस्वार्थ प्रेम करना सीखा जाय, तो यह आशा की जा सकती है कि धीरे धीरे विश्वव्यापी प्रेम उत्पन्न हो जायेगा। यदि एक विशेष इष्टदेवता की भक्ति प्राप्त हो सकती है, तो सर्वव्यापक विराट् से धीरे धीरे प्रेम उत्पन्न होना सम्भव है।

इसलिए जब हम एक व्यक्ति के लिए आत्म त्याग कर सकें, तब समाज के लिए आत्मत्याग की चर्चा करनी चाहिए, उससे पहले नहीं। सकाम बनने से ही निष्काम बना जा सकता है। आरम्भ से यदि कामना न होती, तो उसका त्याग कैसे होता? और उसका अर्थ भी क्या होता? यदि अन्धकार न होता, तो प्रकाश का क्या अर्थ हो सकता था?

सप्रेम सकाम उपासना पहले आती है। छोटे की उपासना से आरम्भ करो, बड़े की उपासना स्वयं आ जायगी।

माँ, तुम चिन्तित मत हो। प्रबल वायु बड़े वृक्षों से ही टकराती है। 'अग्नि को कुरेदने से वह अधिक प्रज्वलित होती है।' 'साँप को सिर पर मारने से वह

अपना फन उठाता है' इत्यादि। जब हृदय में पीड़ा उठती है, जब शोक की आँधी चारों ओर से घेर लेती है, जब मालूम होता है कि प्रकाश फिर कभी न होगा, जब आशा और साहस का प्रायः लोप हो जाता है, तब इस भयंकर आध्यात्मिक तूफान में ब्रह्म की अन्तर्ज्योति चमक उठती है। वैभव की गोद में पला हुआ, फूलों में पोसा हुआ, जिसने कभी एक आँसू भी नहीं बहाया, क्या ऐसा कोई व्यक्ति कभी बड़ा हुआ है, उसका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव कभी व्यक्त हुआ है? तुम रोने से क्यों डरती हो? रोना न छोड़ो! रोने से नेत्रों में निर्मलता आती है और अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। उस समय भेद की दृष्टि—मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि धीरे धीरे लुप्त होने लगते हैं और सब स्थानों में और सब वस्तुओं में अनन्त ब्रह्म की अनुभूति होने लगती है। तब—

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

'—सर्वत्र ही ईश्वर को समभाव से उपस्थित देखकर वह आत्मा को आत्मा से हानि न पहुँचाकर परमगति को प्राप्त करता है।'

सदैव तुम्हारा शुभचिन्तक,
विवेकानन्द

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

साधु यदि गृहस्थों के साथ अधिक मेल-जोल बढ़ाए, तो उससे उसकी त्याग-वृत्ति में कमी आ सकती है। इसलिए काम-काज के बहाने भी साधु गृहस्थों के साथ जितना कम रहे उतना अच्छा। यहाँ तक कि गृहस्थों के घर निमन्त्रणादि में भी साधु जितना कम जाय, गृहस्थ के पास से जितनी कम चीजें ग्रहण करे, उतना ही उसका मंगल होगा—यह भाव माँ अपनी साधु-सन्तानों के भीतर दृढ़ करने की चेष्टा करतीं। इसीलिए जब उनका कोई शिष्य गाँव के परिचितों के घर का, यहाँ तक कि मामा (श्री माँ के भाई) लोगों के घर का भी निमन्त्रणादि स्वीकार न करता, अथवा किसी के द्वारा दी गयी कोई चीज न खाता, न ग्रहण करता, तो इससे माँ दुःखित न हो प्रसन्न ही होतीं। एक बार एक ब्रह्मचारी ने उनसे गेरुआ वस्त्र लिये थे, फिर कुछ समय बाद उसने गेरुए का त्याग कर दिया था। उससे पहले उसने आश्रम छोड़कर एक गृहस्थ के घर में बहुत दिन बिताये थे। माँ ने उस साधु के गेरुआ छोड़ देने की बात सुनकर बहुत दुःखित हो कहा था, "विषयी लोगों का अन्न खा-खाकर उसकी बुद्धि मलिन हो गयी है। मिट्टी की हाँड़ी में सिंहनी का दूध नहीं टिकता !" संसार का त्याग करके भी जो व्यक्ति कामिनी-कांचन में आसक्त लोगों से घनिष्ठता बनाये रखता है, उसका पतन होना

बहुत स्वाभाविक है, इसलिए जो उनसे यथासम्भव दूरी बनाये रखता और कठोरता से रहता, माँ उसकी प्रशंसा करतीं। माँ के मुख से सदा ही त्यागमय जीवन बिताने की प्रशंसा सुनायी पड़ती, यहाँ तक कि रोजमर्रा के व्यवहार में भी वे जिसके भीतर त्याग का भाव देखतीं, उसे इस मार्ग में प्रोत्साहित करतीं।

एक समय जयरामवाटी में उनके कुछ त्यागी शिष्य इकट्ठे हुए। उन सबका स्वभाव अलग अलग था, किसी को अच्छी अच्छी चीजें खाना पसन्द था, तो कोई कठोरता का आदी था। माँ अपनी सन्तानों के मनोभाव ताड़ लेतीं, पर दूसरी महिलाएँ वह न कर पातीं; इसलिए उन सन्तानों को भोजन तथा जलपान कराने के समय वे महिलाएँ समझ न पातीं कि किसे ज्यादा परोसा जाय और किसे कम। माँ यदि उस समय सामने रहतीं, तो बिना किसी संकोच के जिसको जो देना होता बतला देतीं। गर्मी के समय एक दिन शाम को लड़कों को कुछ जलपान देना था। एक महिला व्यवस्था कर रही थी, पर स्वयं कुछ ठीक समझ नहीं पा रही थी कि किसे कैसे परोसना है। माँ से पूछने पर उन्होने बतला दिया कि किसको क्या देना होगा। एक लड़के को दिखाकर उन्होंने कहा कि उसको कुछ नहीं देना; वह लड़का बार बार खाना तथा शौकीनता पसन्द नहीं करता था, इसलिए माँ भी उसे उसी प्रकार कठोरता बरतते हुए चलने देतीं।

सुबह सब दिन अच्छा प्रसाद उपलब्ध नहीं रहता था, मुरमुरा ही वहाँ का प्रमुख जलपान था। जब बाहर के भक्त-साधु रहते, तब जिनको मुरमुरा न रुचता, उनके लिए हलुआ बनता। किन्तु गँवई-गाँव में सब समय हलुआ बना पाना भी कठिन बात थी। घर की दूसरी महिलाएँ साधुओं को सिर्फ मुरमुरा देने में कई बार संकोच का अनुभव करतीं, पर माँ स्नेहपूर्वक सन्तानों को मुरमुरा खिलाकर सन्तुष्ट कर देतीं। उनके जो सब लड़के खाने के मामले में 'यदृच्छालाभ-सन्तुष्ट' वाला भाव रखते, उनके लिए माँ मुरमुरा छोड़कर हलुआ बनाने नहीं जातीं तथा दूसरों को भी नहीं बनाने देतीं। जब वे महिलाओं को मुरमुरा परोसने में संकोच करते देखतीं, तो वे स्पष्ट ही बोल देतीं, "इसको मुरमुरा देने से चलेगा।" वे सब लड़के भी मुरमुरा खाकर ही अधिक सन्तुष्ट होते और माँ तथा दूसरों की परेशानी कम होने से मन ही मन स्वस्ति का अनुभव करते।

एक समय चन्द्रकोणा की एक अल्पवय की विधवा ब्राह्मणकन्या आकर कुछ समय माँ के पास रही थी। लड़की ने माँ से कृपा पायी थी और वह चालचलन एवं व्यवहार में पुराने समय की विधवाओं की तरह थी। सिर के केश एकदम छोटे छोटे रखती, सफ़ेद कपड़ा पहनती, देह में कोई गहना नहीं रहता, खाने के सम्बन्ध में विधवाओं के नियमों का पूरी तरह से पालन करती। उस अत्यन्त भक्तिमती युवती ने माँ की

विशेष स्नेह-ममता पायी थी। उसकी कठोर त्याग-तपस्या और भक्ति-विश्वास की प्रशंसा करके माँ कई वार दूसरों को त्याग के पथ में प्रोत्साहित करतीं।

माँ अपने स्वजनों की—अपने भाई और भतीजियों की—भोग के विषय में आसक्ति और रुपये-पैसे के प्रति लालसा तथा भगवान् के प्रति उन लोगों के भक्ति-विश्वास के अभाव की बात बतलाकर कभी कभी दुःख करतीं। संसार त्यागकर साधु बनने के बाद भी किसी के मन में विषय की छाप पड़ते देख माँ के हृदय में विशेष वेदना होती। इसलिए जब कोई त्याग के पथ का अवलम्बन करना चाहता, तो उसे खूब सावधान कर देतीं और विवेक-पूर्वक विचार करते हुए धीरे धीरे बढ़ने के लिए कहतीं। माँ विशेष सावधान रहतीं कि कोई क्षणिक आवेश में आकर कुछ न कर बैठे, और इसके लिए वे उससे सोच-समझकर, सब कुछ देख-सुनकर करने के लिए कहतीं। यह भी कहतीं कि किसी भी काम में आगे का विचार बिना किये एकदम से जोश-खरोश दिखाना ठीक नहीं है। एक दिन 'उद्बोधन' में रसोई पकानेवाली महराजिन नहीं थी। कौन पकाएगा इस बात को लेकर चर्चा होने लगी। एक अल्पवयस्क ब्रह्मचारी ने स्वयं होकर खाना पकाने की बात कही। उसके मन का भाव था कि पकाने की असुविधा देख माँ को कोई कष्ट न हो। माँ के पास उसकी इच्छा के बतलाने पर माँ ने उसका समर्थन नहीं किया। माँ उसको रोकते हुए कहने लगीं,

"बहुत से लोगों का खाना पकाना है—बड़े बड़े हण्डे तुमसे चढ़ाते-उतारते नहीं बनेंगे।" उसके बाद खूब साव-धान करते हुए बोलीं, "सब काम में अगुआई मत करना।" किन्तु खेद, वह ब्रह्मचारी उस अमूल्य उपदेश की धारणा नहीं कर सका, फलस्वरूप बाद में उसे उत्साह के आधिक्य में कई कामों में अगुआई करने के कारण बारम्बार खूब धक्के खाने पड़े थे, तब कहीं वह माँ का उपदेश हृदयंगम कर सका था।

अड्डेबाजी, फालतू गपशप, ये सब मनुष्य को पथ-भ्रष्ट करते हैं, कुपथ की ओर ले जाते हैं; इसीलिए माँ अपने शिष्यों को इस विषय में खूब सचेत कर देती थीं। एक दिन उन्होंने किसी काम से अपने एक शिष्य को दूसरे गाँव भेजा था। वह काम समाप्त कर, बहुत समय वहीं बिताकर, विलम्ब से माँ के पास वापस आया था। माँ ने उससे विलम्ब का कारण जानना चाहा। जब उन्हें पता लगा कि जिस काम से उसे भेजा था, वह तो जाते ही पूरा हो गया था, पर वह वहाँ बैठ गपशप लगा रहा था और बाद में कोई तमाशा खड़ा करके लौटा है, तब वे दुःखित हुईं और दृढ़ स्वर में बोलीं, "जब भी किसी काम से कहीं जाओगे, तो काम होते ही तत्क्षण लौट आना। देखा जाता है कि कई बार केंचुआ पकड़ने जाकर मिट्टी अधिक खोद डालने पर हम साँप निकाल बैठते हैं।"

छोटी सी बात का बतंगड़ बना देना हम लोगों का स्वभाव होता है एवं उसके फलस्वरूप हमें दुःख-अशान्ति

का भी भोग करना पड़ता है। माँ सब काम में धैर्य और सहिष्णुता धारण करने का तथा चुपचाप सब कुछ सहने का उपदेश देते हुए कहतीं--"श, ष, स,—जो सहे वह रहे, जो नहीं सहता वह नष्ट हो जाता है।"

जयरामवाटी में माँ की सुविधा के लिए योगीन महाराज (स्वामी योगानन्द) ने बहुत सारी चीजें जुटा दी थीं। उनमें एक खाट थी, फिर अलगनी के साथ मोड़कर रखी जा सके ऐसी एक लकड़ी की छोटी मेज भी थी। इन सब चीजों के साथ स्वामी योगानन्द की स्मृति जुड़ी होने से माँ बड़ी सावधानी के साथ उनका व्यवहार करतीं। उनके दिये बिछौने के गद्दे की रुई बहुत समय से व्यवहार करते करते कड़ी हो गयी थी, किन्तु माँ ने उसको नहीं बदला। उन्होंने अपने एक शिष्य को कलकत्ता ले जाकर उसमें की रुई फिर से धुनाकर ले आने का निर्देश देते हुए कहा, "योगिन का बनवाया गद्दा है, एक नम्बर की रुई है, अभी भी खूब अच्छी है; थोड़ी सी और मिलाकर धुनवा लेने से ही फिर से खूब अच्छी बन जाएगी, बिलकुल नयी हो जाएगी।" शिष्य माँ के आदेशानुसार उसे कलकत्ता ले जाकर ठीक करा लाया और माँ फिर से आनन्द के साथ उसका उपयोग करने लगीं।

माँ के जयरामवाटी रहते समय एक दिन घर का सामान इधर उधर करते समय उस मेज के ऊपर की भारी पटिया (बीच में कब्जा देकर जोड़ी हुई) माँ के

पैर पर गिर पड़ी। बहुत जोर से चोट लगी—चमड़ी छिलकर रक्त बहने लगा। बड़ी पीड़ा होने लगी, माँ हाथ से पैर को दबाकर बैठ गयीं, नेत्रों में आँसू आ गये। सब दौड़े भागे आये, दवाखाने से मलहम लाकर पट्टी बाँध दी गयी। माँ स्वयं के ऊपर दोष लेती हुई कहने लगीं, "सोच रही थी मेज को एक तरफ थोड़ा सरकाकर कमरे को अच्छी तरह से साफ कर दूँगी, यह देखो, झाडू पड़ी हुई है; पटिया भारी है, उठाते उठाते हाथ से छूट गयी। कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा, नहीं तो किसी से भी कह देने से वह हटा देता। अभी थोड़े ही देर पहले कोआल-पाड़ा से लड़का सामान लेकर आया था, बैठकर उसने मुरमुरा खाया और बातें करके चला गया, उसी से कहने से वह कर देता, पर याद नहीं आयी। अपने हाथ से करने गयी तो पटिया गिर पड़ी, चोट लग गयी। भाग्य में जो है, वह भुगतना ही पड़ेगा।" माँ स्थिर भाव से वहीं बैठे बैठे धीरे धीरे बातें कर रही थीं। सुनते ही नलिनी दीदी भागी आयीं; देखकर खूब दुःख करने लगीं और साथ ही छोटी लड़की या बहू पर शासन करने के स्वर में कहने लगीं, "इनको तो सब काम अपने हाथ से किये बिना अच्छा ही नहीं लगता। इस भारी पटिया को उठाने की क्या जरूरत थी? यह क्या कम भारी है? घर में इतने सारे लोग हैं, किसी को भी कहने से कर देता; सो तो नहीं, स्वयं करेगी। अब देखो न, कितनी तकलीफ हो रही है। कितने दिन भुगतना पड़ेगा, क्या

होगा कौन जाने ?" नलिनी दीदी घटना को खूब बढ़ा-चढ़ा रही थीं और माँ चुप रहकर सब सुन रही थीं, पीड़ा भी कुछ कम हो चली थी। उस समय जो शिष्य वहाँ की व्यवस्था की देखभाल करता था, उसको पास में बुलाकर माँ ने धीरे धीरे कहा, "यह सब बात कलकत्ता मत लिखना, नहीं तो वे लोग फिर आदमी भेज देंगे, तकलीफ उठाकर फिर कौन कौन आएगा, और व्यर्थ ही भीड़भाड़ और शोर-शराबा शुरू होगा।" माँ ने उसे विशेष रूप से आगाह करते हुए चुपचाप रहने के लिए कहा; बताया कि चोट कोई विशेष नहीं है, जल्दी ही ठीक हो जायगी। माँ के आदेशानुसार उसने किसी को कुछ नहीं लिखा। माँ किसी भी विषय में दूसरे को तकलीफ में नहीं डालना चाहती थीं। स्वयं की तकलीफ जहाँ तक बन पड़ता, छिपाकर ही सह लेतीं।

किसी दूसरे के पत्र से खबर पा पूजनीय शरत् महाराज ने आरामबाग के भक्त, डाक्टर प्रभाकर बाबू को पत्र लिखा कि वे जयरामवाटी जा माँ की चोट की अच्छी तरह जाँच कर उनको पत्र लिखें। प्रभाकरबाबू पत्र पाते ही आये। तब तक घाव प्रायः सूख गया था और दर्द नहीं के बराबर था। प्रभाकरबाबू ने अच्छी तरह जाँच की और दवा की व्यवस्था कर गये, फिर कलकत्ते में पूजनीय शरत् महाराज को पत्र देकर सब बातें अच्छी तरह लिख दीं कि किसी प्रकार के भय और चिन्ता का कारण नहीं है, क्योंकि घाव सूख गया है।

इस सम्बन्ध में शरत् महाराज ने माँ को अत्यन्त विनीत भाव से एक पत्र लिखा, माँ के पैर में लगी चोट के लिए बहुत दुःख प्रकट किया एवं कभी कुछ भी होने से उनको खबर देने के लिए कातर भाव से प्रार्थना की। साथ ही, उस घटना की सूचना उन्हें न देने के लिए उन्होंने वहाँ तैनात शिष्य की सामान्य रूप से शिकायत करते हुए खेद भी प्रकट किया था। माँ सभी को उपदेश देतीं, "मनुष्य अपने ही कर्मों का फल भोगता है, इसलिए दूसरों को दोषी न ठहराकर भगवान् से प्रार्थना करना चाहिए और उनकी कृपा पर निर्भर रहते हुए धीर भाव से सब अवस्थाओं को सहते जाना चाहिए।"

स्वयं के दुःख-कष्ट के लिए माँ को कभी किसी दूसरे को दोष देते नहीं देखा गया। राधू की माँ—छोटी मामी—जब उनको अत्यन्त परेशान करतीं, तब वे स्वयं के ही कर्मों को दोष देते हुए कहतीं, "बेटा! ऐसा लगता है काँटा-लगे बेलपत्ते से शिव की पूजा की थी, इसीलिए मुझे यह दुःखरूपी काँटा भोगना पड़ रहा है।" माँ के बाएँ पैर के घुटने में वात की पीड़ा की बात पहले लिखी जा चुकी है। इसके लिए तरह तरह की औषध उपयोग में लायी जाती, किन्तु स्थायी लाभ नहीं हुआ। माँ का सभी ओषधियों में विश्वास रहता। जो जैसी ओषधि की व्यवस्था कर देता, माँ उसी का सेवन करतीं इसमें खुद को लाभ मिलने की भावना तो रहती ही, पर साथ में चिकित्सक के आग्रह को पूरा करने और उसके मन

को सन्तुष्ट करने का भाव भी रहता। जयरामवाटी में एक घर नाइयों का था; वे लोग सम्पन्न गृहस्थ थे तथा गाँव में उन लोगों का मान-सम्मान भी था। एक दिन उनका मुखिया माँ के पास आकर विनीतभाव से कहने लगा कि उसके एक रिश्तेदार आये हुए हैं और वे एक बार माँ के दर्शन करना चाहते हैं, यदि माँ की अनुमति हो तो वह उन्हें ले आए। माँ ने मुसकराते हुए ले आने के लिए कहा। मुखिया जाकर रिश्तेदार को ले आया और माँ के दर्शन करा दिये। सुबह का समय था, माँ का काम निपट गया था, थोड़ी फुरसत थी। रिश्तेदार के आकर प्रणाम करने पर माँ ने उन्हें स्नेहपूर्वक बरामदे में बिठाला और स्वयं पास में बैठ गयीं तथा अपने ही रिश्तेदार के समान उनसे कुशल-क्षेम पूछने लगीं। दोनों के बीच सुख-दुःख की अनेक बातें होने लगीं। आगन्तुक रिश्तेदार प्रौढ़ वय के और सौम्य रूप वाले थे तथा साफ-सुथरी वेशभूषा पहने हुए थे, बातचीत में सज्जन थे। माँ को उनके साथ बातें करके आनन्द आया। वे वैद्य भी थे। बातचीत के प्रसंग में जब उन्हें माँ के घुटने में वात के दर्द की बात मालूम हुई, तो वे दुःखी हुए और माँ को बतलाया कि वे एक औषधि जानते हैं, उस दवा से वात की पीड़ा बहुत कम हो जायगी। उन्होंने यह भी कहा कि वह एक लता की जड़ है, जो यहाँ भी पायी जा सकती है और माँ यदि व्यवहार करें, तो वे उसकी खोज कर देंगे। माँ ने जब सहर्ष औषध व्यवहार

करने की इच्छा प्रकट की, तो वे एक ब्रह्मचारी को साथ ले जंगल में गये और वहाँ एक छोटी सी जड़ी खोज निकाली। वह जड़ी ब्रह्मचारी के हाथ में दे, उसे अच्छी तरह सिलबट्टे में पीसकर पीड़ावाले स्थान पर लगाने के लिए कहा। वे ब्रह्मचारी को विशेष सावधान करते गये कि दवा हाथ से न लगायी जाय, बल्कि एक लकड़ी के सिरे से दवा की एक बूँद पीड़ा वाले स्थान पर चुहाकर लगा दी जाय।

औषध ले आने से माँ प्रसन्न हुईं। पूजा एवं जलपान के बाद उन्होंने अपने उस ब्रह्मचारी शिष्य को दवा तैयार करके ले आने को कहा। वह यत्नपूर्वक औषध तैयार करके ले आया। माँ ने बैठकर घुटने के ऊपर से कपड़ा हटाया और दवा लगाने का ठीक स्थान बतला दिया। उसने एक लकड़ी के अग्रभाग से ज्योंही दवा की बूँद वहाँ टपकायी कि माँ दर्द से चीख उठीं। भयंकर जलन होने लगी, मानों आग से छू गया हो; साथ ही साथ वहाँ फफोला पड़ गया। जिसने दवा लगायी थी, वह तो हक्का-बक्का हो असहाय भाव से देख रहा था। माँ के नेत्रों से अविरल अश्रु बहने लगे, वे दर्दवाले स्थान के पास पैर को हाथ से दबाकर बैठी हुई थीं। घर के सब लोग जड़वत् हो गये। क्या किया जाय इस पर सोच-विचार होने लगा और उस वैद्य के प्रति अजस्र कटूक्तियाँ वर्षित होने लगीं। पर माँ ने वैद्य को तनिक भी दोष नहीं दिया उसकी थोड़ी भी

निन्दा नहीं की। वे अपने को ही दोषी ठहराकर कहने लगीं जो रोग इतनी ओषधियों से नहीं ठीक हुआ, उसके इस सामान्य-सी ओषधि से ठीक हो जाने की दुराशा उन्होंने क्योंकर की ? यह तो कर्मों का फल है—कपाल में दुःख भोग रहने से बुद्धि इसी प्रकार हो जाती है, सब योगा-योग भी उसी प्रकार बनते चले जाते हैं, इत्यादि। वहीं ब्रह्मचारी शिष्य अपराधी के समान विषण्ण भाव से पास में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो खड़ा था। सोच रहा था कि माँ को इतना कष्ट देनेवाली ओषध उसने अपने हाथ से बना कर क्योंकर लगा दी, वह भी तो आखिर अपराधी ही हुआ। माँ ने उसको आश्वस्त करते हुए पत्थर की छोटी कटोरी में थोड़ा घी लाने के लिए कहा। घी ले आने पर माँ के कहने से वह उसमें थोड़ा ठण्डा जल मिलाकर फेंटने लगा। कुछ क्षण पश्चात् उसने जल फेंक दिया और फिर से दूसरा ठण्डा जल डालकर फेंटने लगा। इस प्रकार कई बार करने से वह सफेद ताजे मक्खन के समान तथा खूब ठण्डा हो गया। तब जलने वाले स्थान पर उसने उसका धीरे धीरे लेप कर दिया। इससे वह स्थान तुरन्त नरम हो गया और जलन भी कम हो गयी। माँ के मुख पर हँसी देख सब निश्चिन्त हुए और तब मध्याह्न का आहा-रादि सम्पन्न हुआ। इस इलाज से कुछ ही दिन में फफोला पूरी तरह सूखकर आराम हो गया। माँ का असीम धैर्य, दुःख-कष्ट में भी अविचलित चित्त से कर्त्तव्य का निश्चय करना एवं सर्वोपरि, दूसरों को तनिक भी

दोष न देना—माँ के ये सब गुण देख शिष्य के आश्चर्य की सीमा न रही। पूर्वोक्त प्रकार से ठण्डे जल में धुला हुआ घी वायुरोग की भी महौषध है। बाद में उस शिष्य को अपने सिर-दर्द और अनिद्रा के रोग में उस औषध का उपयोग करने से लाभ मिला था। वैसे वह बहुत स्निग्धकर वस्तु है, पर सिर में ज्यादा लगाने से सर्दी लग जा सकती है।

•

किसी को शब्द से भी चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। अगर आवश्यक न हो तो अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। कठोर शब्द बोलने से स्वभाव कर्कश हो जाता है। यदि वाणी पर संयम न हो तो व्यक्ति की संवेदनशीलता जाती रहती है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "लंगड़े आदमी से यह नहीं पूछना चाहिए कि वह लंगड़ा कैसे हुआ।"

—श्री माँ सारदा।

शिक्षा का भारतीय आदर्श

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मिशन स्टूडेण्ट्स होम, मद्रास ने पिछली फरवरी में अपने सेवामय पचहत्तर वर्ष पूर्ण करने के उपलक्ष में अपनी प्लाटिनम जयन्ती धूमधाम से मनायी। इस जयन्ती समारोह के उद्घाटन के अवसर पर रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने अंगरेजी में जो आशीर्वचन प्रदान किया, प्रस्तुत लेख उसी का हिन्दी अनुवाद है। इस 'विद्यार्थी गृह' में विद्यालय और महाविद्यालय के ३५० से भी अधिक छात्र रहते हैं और उन्हें अपने निवास एवं भोजन के लिए कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। —स०)

हम लोग 'रामकृष्ण मिशन विद्यार्थी गृह'(Students' Home)की प्लाटिनम जयन्ती मनाने के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं। यद्यपि में भी इस संस्था के साथ एकदम प्रारम्भ से, यानी सन् १९१६ से, जब में यहाँ के रामकृष्ण मठ में एक ब्रह्मचारी था, जुड़ा हुआ हूँ, तथापि इस संस्था के सम्बन्ध में में विशेष कुछ नहीं कहूँगा। में तो उस शिक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहूँगा, जो आज हमारे देश में छायी हुई है।

हम जिधर भी देखें—चाहे राजनीति का क्षेत्र हो या अर्थनीति का, चाहे सामाजिक सम्बन्धों का अथवा शिक्षा का—हमें सर्वत्र एक निराशाजनक स्थिति ही दिखायी देती है। और जहाँ तक शिक्षा के क्षेत्र का प्रश्न है, स्थिति सबसे खराब है। इस देश में यह सब विभ्रान्ति जो हम देखते हैं, उसका कारण है शिक्षा-प्रणाली में हमारी मूलभूत भूल। लड़के उसी

प्रकार बढ़ते है, जैसा उन्हें सिखाया जाता है। और यदि उस पद्धति में ही खराबी हो, तो वह दोष सबमें ही, जैसे जैसे वे बढ़ते हैं, मिलेगा। इसके लिए हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। हम लोग आज भी बहुत कुछ उसी यूरोपीय शिक्षाप्रणाली काअनुसरण कर रहे हैं, जो हम पर अंगरेजों के द्वारा जब से वे यहाँ आये तब से लादी गयी थी। वह उनकी पश्चिमी सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में भले ही उपयोगी रही हो, पर हमारे लिए तो वह एकदम उपयोगी नहीं थी। न्यूनाधिक मात्रा में आज भी उसी प्रणाली का ही अनुसरण किया जा रहा है। शिक्षाप्रणाली के उद्देश्यों तथा राष्ट्र की महत्वाकांक्षाओं के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। शताब्दियों से चरम सत्य का साक्षात्कार ही राष्ट्र की महत्त्वाकांक्षा रही है। समाज की संरचना को इस प्रकार परिवर्तित और नव-नियोजित किया जाता रहा, जिससे सभी लोग कुछ सीमा तक संसार का अनुभव भी ले लें और लक्ष्य की प्राप्ति भी कर लें। शिक्षा का भी समायोजन उसी के अनुरूप किया जाता रहा। परा विद्या पर तब बड़ा बल दिया जाता। ऐसी बात नहीं थी कि अपरा विद्या को तिरस्कृत या उपेक्षित किया गया था, क्योंकि भारत उस युग में अपरा विद्या के क्षेत्र में भी आगे बढ़ा हुआ था पर बल परा विद्या पर—चरित्र-निर्माण, नैतिकता और ऐसी ही सब बातों पर दिया जाता। इससे लड़कों के व्यक्तित्व का समुचित विकास होता,

जिससे वे राष्ट्र द्वारा अभिलषित लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होते। आजकल की तरह तब विश्वविद्यालय और महाविद्यालय नहीं थे। तब लड़कों को ऐसी क्रियाओं के माध्यम से जाना पड़ता, जिनसे उनका चरित्र गठित होता तथा मन पवित्र और सुदृढ़ बनता। उन्हें अपने विद्यार्थी-जीवन में कड़े ब्रह्मचर्य-व्रत एवं ऐसे ही कुछ नैतिक नियमों का पालन करना पड़ता। ये सब उपाय उनके मन के गठन में सहायक होते। आखिर मन ही तो ऐसा औजार है, जिसके द्वारा मनुष्य जानता है और यदि वही दोषपूर्ण हो, उसे यदि ठीक ढंग से न रखा जाय, तो मन के लिए ज्ञान का संग्रह करना कठिन हो जायगा।

जब हम स्वामी विवेकानन्द की बात पढ़ते हैं, तो हम पाते हैं कि उनका मन इतना अच्छी तरह सधा हुआ था कि वे चुटकी बजाते ही ग्रन्थ के ग्रन्थ पढ़ जाते। एक बार जब वे भ्रमण कर रहे थे, उनके एक गुरुभाई साथ थे। वे एक ग्रन्थालय के समीप तब रह रहे थे। स्वामीजी ने अपने गुरुभाई से ग्रन्थालय से कुछ पुस्तकें ले आने के लिए कहा। प्रतिदिन गुरुभाई ग्रन्थालय जाते और स्वामीजी द्वारा बताये गये दो-एक ग्रन्थ लाते और दूसरे ही दिन उन पुस्तकों को वापस कर और कुछ दूसरी पुस्तकें ले आते। ग्रन्थपाल ने सोचा, "यह क्या; इनमें से एक ही पुस्तक के अध्ययन में महीनों लग जायँगे, और यहाँ तो हर दिन किताबें लौटायी जा रही हैं! यह सब क्या मात्र दिखावा है?" उसने अपनी यह शंका स्वामीजी

के गुरुभ्राता के निकट प्रकट कर दी और गुरुभाई ने जाकर यह बात स्वामीजी को बता दी। इस पर स्वामीजी एक दिन स्वयं ग्रन्थालय गये और उन्होंने ग्रन्थपाल से कहा कि आपने मुझे पढ़ने के लिए जितनी पुस्तकें दीं, उनमें से किसी भी मे से आप मुझसे प्रश्न पूछ सकते हैं। ग्रन्थ-पाल ने तब स्वामीजी से प्रश्न पूछे और स्वामीजी ने सबके यथोचित उत्तर दे दिये। स्वामीजी बोले, "देखिए, आप लोग शब्द पढ़ते हैं—जब आप कोई पुस्तक लेते हैं, तो उसे शब्दश: पढ़ते हैं। पर मैं ऐसा नहीं पढ़ता, मैं पृष्ठत पढ़ता हूँ—मैं पृष्ठ के प्रथम और अन्तिम कुछ शब्दों को पढ़ा करता हूँ, इससे मुझे पता चल जाता है कि उस पृष्ठ में क्या कहा गया है।"

अतएव, जब मन को, स्मृति को एक विशेष पद्धति से विकसित किया जाता है तब वह ज्ञान के स्पष्टत: आकलन में हमारा सहायक होता है। हमारी आधुनिक शिक्षाप्रणाली में मन के ऐसे प्रशिक्षण का अभाव है। यही परा विद्या और लौकिक शिक्षा के बीच का अन्तर है। परा विद्या की उपेक्षा ही शिक्षापद्धति की समस्त बुराइयों की जड़ है, उसी के कारण हम आज इतना दिग्भ्रम देखते हैं।

फिर, इस पर है राजनैतिक दलों की खींचतान। उनके द्वारा अपने दलीय स्वार्थ की सिद्धि के लिए विद्यार्थियों को अपनी अपनी ओर खींचना विद्यार्थी-समुदाय पर बड़ा खराब प्रभाव डालता है।

इसके कारण सारे देश में शिक्षाप्रणाली की दुर्गति हुई है। उत्तर भारत के एक विश्वविद्यालय में तो सन् १९७८ में ली गयी परीक्षाओं का परिणाम अभी तक घोषित नहीं हुआ है। फलतः उसके बाद की परीक्षाओं के परिणाम भी, भले ही तैयार हैं, घोषित नहीं किये गये हैं, क्योंकि पूर्ववर्ष की परीक्षाओं के परिणाम अघोषित हैं। यह हमारी शिक्षापद्धति का ढर्रा है। जब तक शिक्षा के आधारभूत दर्शन में परिवर्तन नहीं किया जाता और हम परा विद्या को—चरित्र-निर्माण और मनोनिग्रह आदि को—महत्त्व नहीं देते, तब तक एक महत्तर भारत का निर्माण बड़ा कठिन है।

एक बार एक विज्ञान के प्राध्यापक हमारे ही देश के किसी महाविद्यालय में प्रयोगशाला देखने आये। उस विभाग के प्रभारी अध्यापक उन्हें प्रयोगशाला दिखाने ले गये। जब वे वहाँ पर आये, जहाँ बहुत से उन्हें अणुवीक्षक यन्त्र रखे हुए थे। तो उन्होंने एक में से देखने की चेष्टा की। पर उन्हें स्पष्ट कुछ दिखा नहीं। तब उन्होंने अणुवीक्षक यन्त्र के लेंस (ताल) को निकाला, अपने रूमाल से उसे साफ किया और उसे जमाकर फिर से देखा। अब उन्हें सब कुछ स्पष्ट दिख रहा था। अणुवीक्षक यन्त्र एक ऐसा औजार है, जिसके सहारे हम वस्तुओं को देखने और उनका ज्ञान पाने में समर्थ होते हैं। यदि उसे साफ न रखा जाय, उसे गन्दा रहने दिया जाय, तो जिस वस्तु की जाँच की जा रही है उसके सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी कैसे

मिलेगी ? लेंस को साफ रखना होगा। इसी प्रकार जब नैतिकता और सदाचार का पालन करते हुए मन को साफ और सबल बनाया जाता है, तभी मन वस्तुओं के सूक्ष्म सत्य को सहज रूप से पकड़ने में समर्थ होता है। प्राचीन भारत में हमें ऐसी ही शिक्षा प्राप्त होती थी, जो आज हमें अनुपलब्ध है।

इस प्रकार के 'विद्यार्थी गृह' का एक बड़ा लाभ यह है कि महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जिस शिक्षा का अभाव है, उसे यहाँ दिया जा सकता है, जब विद्यार्थी छात्रावास में रहते हैं। और वह किया भी जा रहा है। तभी तो हम इतनी बड़ी संख्या में मेधावी लड़कों को यहाँ से निकलकर राष्ट्र के जीवन में महत्त्वपूर्ण पदों पर अवस्थित होते देख रहे हैं। और यह केवल इसी 'विद्यार्थी गृह' के परिप्रेक्ष्य में नहीं, बल्कि उन समस्त आवासीय शिक्षा-संस्थानों के 'विद्यार्थी गृहों' के सन्दर्भ में भी सत्य है, जिन्हें हम लोग चला रहे हैं। यह नहीं कि हमने भौतिक पक्ष की उपेक्षा की हो, क्योंकि हमारे यहाँ के लड़के विभिन्न प्रदेशों के शिक्षा-मण्डलों तथा विश्व-विद्यालयों की परीक्षाओं में जिस प्रकार उच्च स्थानों पर अधिकार करते रहे हैं, वह प्रदर्शित करता है कि उनका भौतिक पक्ष कितना सबल है। पर वहाँ बल परा विद्या पर दिया जाता है। जब तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को चरित्रवान् पुरुषों के निर्माण में सक्षम नहीं बनाया जाता—ऐसे पुरुष, जो देश की समस्याओं को

सुन्दर रूप से सुलझा सकें, तब तक देश के लिए कोई आशा नहीं है।

अतएव जो लोग देश की शिक्षाप्रणाली से जुड़े हुए हैं, उनसे मैं निवेदन करता हूँ कि वे यह देखें कि परा विद्या का यह आदर्श हमारी वर्तमान शिक्षाप्रणाली में समायोजित हो जाय। श्रीरामकृष्ण इस प्रयत्न में हमारी सहायता करें, वे इस संस्थान पर, यहाँ के विद्यार्थियों और आचार्यों पर तथा उन सब पर अपने आशीर्वाद का वर्षण करें, जो इस संस्थान से जुड़े हुए हैं। सभी लोग उनके आशीर्वाद के भागी हों यही उनके श्रीचरणों में मेरी साग्रह प्रार्थना है।

०

तुममें से प्रत्येक को महान् होना होगा—'होना ही होगा' यही मेरी टेक है। यदि तुममें, आदर्श के लिए आज्ञापालन, तत्परता और कार्य के लिए प्रेम—ये तीन बातें रहें, तो तुम्हें कोई रोक नहीं सकता।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-स्तवन

स्वामी वागीश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

(राग – भूपाली : ताल – रूपक)

नाथ तुम भवभयनिवारी
भगतचित-आनन्दकारी ।
प्रेमघन तव करुण आनन
शोकवारण तापहारी ॥ध्रुव॥

पूर्ण ब्रह्म तुम्हीं सनातन
नित्य निर्गुण निराकारी ।
भक्त कारण देहधारण
भुवनपावनरूपधारी ॥१॥

सुरधुनीतटकरत लीला
दक्षिणेश्वर के पुजारी ।
सिद्धिदाता बने साधक
सर्वधर्ममतानुसारी ॥२॥

कामकांचनलेश-विरहित
घोररिपु बलदलनकारी ।
मोहमायाभ्रम हरो प्रभु
शरण आये हम तुम्हारी ॥३॥

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :-
अधरलाल सेन

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेख-माला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और मिशन, बेलुड़मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेखमाला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके जून १९७५ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है।---स०)

"महाराज, हमारे यहाँ बहुत दिनों से आप नहीं पधारे हैं। बैठकखाने में मानो संसारीपन की दुर्गन्ध आती है, और बाकी तो सब अँधेरा ही अँधेरा है।" भक्त की यह बात सुनकर गुरुदेव के स्नेह का सागर उमड़ पड़ा। भावावेश में वे उठकर खड़े हो गये और शिष्य के मस्तक और हृदय पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। स्नेहपूर्वक कहा---"मैं तुम लोगों को नारायण देख रहा हूँ। तुम्हीं लोग मेरे अपने आदमी हो।"[1]

इस प्रकार का वार्तालाप गुरुदेव और उनके एक शिष्य के बीच उस समय हुआ था, जब उन्हें पहली बार मिले मात्र एक वर्ष और पन्द्रह दिन हुए होंगे।

गुरुदेव थे दक्षिणेश्वर के परमहंस, जिन्होंने आध्यात्मिक साक्षात्कार एवं अनुभूति के क्षेत्र में अप्रतिम प्रयोग किये थे। उनके लिए ईश्वर तभी सत्य था, जब उसका

---

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग २, पृ. ८०, द्वितीय सं., श्रीरामकृष्ण मठ, नागपुर।

प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जा सके। उनके लिए धर्म-शिक्षा मात्र उपदेश देना अथवा शास्त्र-चर्चा न थी, वह थी गहरा विश्वास प्रदान करना तथा बहुधा अतीन्द्रिय अनुभूति की प्राप्ति करा देना। उनकी असाधारण प्रतिभा और उनके आध्यात्मिक गुरु होने की महानता इसमें थी कि वे स्पर्शमात्र से, या किसी शब्द के माध्यम से अथवा दृष्टिमात्र से या फिर इच्छामात्र से ही शिष्यों के मन को पलटकर ईश्वर के आमने सामने ला देते थे।

और शिष्य थे अधरलाल सेन, जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के होनहार छात्र रह चुके थे तथा पूरे संशयवादी थे। श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक शक्ति के स्पर्श से इनका एक महान् भक्त में परिवर्तन होता है। कलकत्ते के अहीरटोले मोहल्ले की २९ शंकर हालदार लेन में २ मार्च, सन् १८५५ को जन्मे अधर बचपन से ही अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न थे। उनके पिता रामगोपाल सेन कपड़े के एक प्रतिष्ठित व्यापारी थे तथा निष्ठावान् वैष्णव थे। उन्हें गर्व था कि उनके सभी पुत्र—बलाईचन्द, दयालचन्द, श्यामलाल, रामलाल, अधरलाल एवं हीरालाल—जीवन में अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो गये हैं। इनमें सबसे बड़े भाई बलाईचन्द, जिन्होंने बँगला में पाँच पुस्तकें भी लिखी थीं, ने सबसे मेधावी भाई अधर पर काफी प्रभाव डाला था। परिवार की परम्परा के अनुसार अधर जब बारह वर्ष के थे, तभी उनका विवाह रामचन्द सील की सातवर्षीया कन्या

से हो गया था। एन्ट्रेंस की परीक्षा में उच्च स्थान प्राप्त कर उन्होंने प्रेसिडेंसी कालेज में प्रवेश लिया तथा एफ. ए. की परीक्षा में मेरिट में चौथा स्थान प्राप्त करते हुए उत्तीर्ण हुए। साथ ही अँगरेजी साहित्य के लिए स्पृहणीय डफ छात्रवृत्ति भी प्राप्त की। चार वर्ष बाद बी. ए. की परीक्षा में विशिष्टता के साथ उत्तीर्ण हुए।[२] पढ़ाई में तेज होने के साथ साथ अधर ने यह भी अनुभव किया कि वे अपने अनेक सहपाठियों की अपेक्षा कविता लिखने में कहीं अधिक माहिर हैं। १८७४ ईसवी तक उन्होंने अपनी बंगाली कविताओं की कई किताबें छपवा ली थीं, जिनमें थीं 'ललिता-सुन्दरी'[३] (भाग १) एवं 'मेनका'। इसके बाद 'कुसुमकानन' (१८७७ में भाग १ एवं १८७८ में भाग २) तथा १८८० में लार्ड लिटॅन की अँगरेजी कविता 'The Wanderer'[४] का बँगला अनुवाद 'लिटोनियाना' प्रकाशित किया। चौबीस वर्ष की उम्र में वे सरकारी नौकरी में

---

२. इन शैक्षणिक विशिष्टताओं की जानकारी 'बसुमति' मासिक (बँगला) के अग्रहायन, बंगाब्द १३५८ अंक में ब्रजेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय के छपे लेख 'अधरलाल सेन' से ली गयी है।

३. 'बंगदर्शन के श्रावन, बंगाब्द १२८१ अंक में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने इस पुस्तक की समालोचना करते हुए लिखा था कि यद्यपि इसकी कविताओं में कोई नवीनता हो ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी इनके लेखक के उज्जवल भविष्य के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं।

४. इनकी कृतियों की अनेक साहित्यिक समालोचनाओं में से

प्रविष्ट हुए और चिटगाँव (उस समय का पूर्वी बंगाल और अब बाँगला देश) में डिपुटी कलेक्टर नियुक्त हुए उन्होंने चिटगाँव में सीताकुण्डु नामक प्रसिद्ध तीर्थ की खोज का प्रशंसनीय कार्य किया और तत्सम्बन्धी विवरण उन्होंने अपने शोधपूर्ण ग्रन्थ 'सीताकुण्डु के तीर्थ-स्थल (The Shrines of Sitakundu) में सन् १८८१ में प्रकाशित किये। दूसरे साल, सम्भवतः जुलाई में, उनका स्थानान्तर जैसोर में हुआ,। २६ अप्रैल १८८२ को जब उनका स्थानान्तर कलकत्ता हुआ, तब तक बंकिमचन्द्र चटर्जी, प्रसन्न सर्वाधिकारी, महेशचन्द्र न्यायरत्न, कृष्णदास पाल तथा अपने सहपाठी हरप्रसाद शास्त्री जैसे महान् साहित्यकारों द्वारा उनको साहित्यकार के रूप में मान्यता मिल चुकी थी। उनकी विद्वत्ता और साहित्यिक प्रतिभा को सम्मानित करते हुए उन्हें मार्च १८८४ ईसवी में कलकत्ता विश्वविद्यालय का 'फेलो' मनोनीत

एक कलकत्ता 'रिव्यू' में छपा था : 'बाबू अधर लाल जिस शैली में लिखते हैं, उससे विचार और सर्जना शक्ति स्पष्ट झलकती है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के विशिष्ट. स्नातक होते हुए, उन्होंने अपनी प्रतिभा का सुन्दर एवं समुचित उपयोग अपनी मातृभाषा के साहित्य की सेवा में लगाया है, और इस क्षेत्र में हम विश्वास के साथ उनकी उच्च सफलता की भविष्यवाणी करते हैं।' (नरेन्द्र लाहा के 'स्वर्णवणिक कथा ओ कीर्ति', १९४१, भा. २, पृ. ३७७-८ से उद्धृत)। 'हिन्दु पेट्रियट' ने लिखा था : 'रचना में सचमुच कुछ बहुत रोचक, बहुत हृदयस्पर्शी एवं यथार्थ कवित्व है।' (वहीं, पृ. ४४५)

किया गया। उसके बाद वे विश्वविद्यालय कला संकाय के सदस्य बने।

इन साहित्यिक प्रतिभाओं के बावजूद, अधरबाबू की आध्यात्मिक सम्भावनाएँ, जो अँगरेजी शिक्षा के कारण अस्थायी रूप से ढक गयी थीं, फिर से जागने के लिए प्रतिरक्षारत थीं। उस समय के अन्य शिक्षित युवकों की भाँति वे भी मूर्तिपूजा तथा सामान्य आस्तिक आस्थाओं के विरुद्ध अपने विचार प्रकट करते थे। उन्नीस वर्ष की उम्र में अपनी कृति 'ललिता-सुन्दरी' में उन्होंने लिखा था—"मूर्ख हिन्दू मिट्टी की मूर्ति को प्रसन्न करने के लिए उनके सामने पशुओं की बलि देता है। इसमें सन्देह नहीं कि वह इस धारणा से ऐसा करता है कि तुष्ट देवता मृत्यु के उपरान्त उसे स्वर्ग में अपने पुण्यों का उपभोग करने के लिए पहुँचा देंगे।"[५] इसमें संशय नहीं कि ब्राह्म-समाज के प्रभाव ने भी उन्हें छू लिया था, भले ही वह हल्का था।

इन्हीं दिनों दक्षिणेश्वर के परमहंस का नाम आसपास के शिक्षित नवयुवकों में प्रसिद्ध होता जा रहा था। ब्राह्म-समाज की विभिन्न पत्रिकाओं में उनके उपदेश तथा ब्राह्म-समाज की सभी शाखाओं के प्रमुख नेताओं एवं अन्य गणमान्य हिन्दुओं से उनकी भेंट के समाचार बीच बीच में प्रकाशित होते रहते थे। फलस्वरूप उनका

---

५. उनकी कृति 'नलिनी' (१८७७) में फिर आया है, जहाँ नायक कहता है, "ईश्वर की खोज और उसके वास्तविक स्वरूप को कौन और कब जान सका है?"

नाम धार्मिक क्षेत्र में एक अग्रणी के रूप में प्रसिद्ध हो गया था। उस समय के प्रमुख व्यक्तियों पर परमहंस का जो प्रभाव पड़ा था, उसका चित्ताकर्षक वर्णन अधरबाबू के कानों में पहुँचा।

यह ठीक ठीक नहीं मालूम कि किन परिस्थितियों ने अधरबाबू को श्रीरामकृष्ण के पास पहली बार पहुँचाया था, तथापि अक्षयकुमार सेन ने एक मनोरंजक घटना लिखी है। एक दिन अधरबाबू महिमाचरण चक्रवर्ती से उनके काशीपुर-स्थित मकान में मिलने गये। महिमाचरण एक संस्कृत के पण्डित से कोई तन्त्र-शास्त्र पढ़ रहे थे। थोड़ी देर में ही उन तीनों में उसके किसी विशेष प्रसंग के स्पष्टीकरण को लेकर गरमागरम बहस होने लगी। तब यह तय हुआ कि किसी अधिकारी व्यक्ति का निर्णय इस बात पर लिया जाय। महिमाचरण ने श्रीरामकृष्ण का नाम सुझाया और दूसरों ने उसे तत्क्षण स्वीकार कर लिया। तत्काल तीनो दक्षिणेश्वर पहुँचे। अक्षयकुमार सेन के

६. अक्षय कुमार सेन: श्रीश्रीरामकृष्ण पुंथी (पंचम सं., उद्बोधन कलकत्ता ३ से प्रकाशित) पृ. ३४७। रामचन्द्र दत्त (श्रीश्रीरामकृष्णेर जीवनवृत्तान्त (बंगला) सप्तम संस्करण पृ.१६१ ने भी लगभग एक-सा वृत्तान्त दिया है, परन्तु उनके अनुसार श्रीरामकृष्ण के पास प्रश्न के समाधान के लिए तीनों एक साथ नहीं गये थे, अकेले सिर्फ अधर दक्षिणेश्वर गये थे—शायद यह उनकी पहली यात्रा नहीं थी। अधर ने अपने प्रश्न को नहीं उठाया, फिर भी आश्चर्य से उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण स्वयं होकर उस प्रसंग को जिस पर उन लोगों का विवाद था, उठाकर समझा रहे हैं। तथापि यह ध्यान देने की बात है कि 'वचनामृत' में पहली भेंट के वर्णन में इस प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है।

अनुसार यही अधरबाबू की श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट थी।

जो हो 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के रचयिता महेन्द्रनाथ गुप्त के अनुसार अधरबाबू की श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट ९ मार्च १८८३ *को दक्षिणेश्वर में हुई थी। वह अमावस्या का दिन था। ऐसे अवसर पर श्रीरामकृष्ण ईश्वर के विभिन्न भावों में बारम्बार समाधिस्थ होते रहते। जब भी बाह्य चेतना लौटती, वे भगवान् और मात्र भगवान् के सम्बन्ध में ही बातें करते और लोग स्तब्ध बैठे सुनते रहते। मानो चारों तरफ का वातावरण भगवद्भाव से स्पन्दित हो उठता। 'म' महाशय ने श्रीरामकृष्ण के उस समय के आध्यात्मिक भाव के

---

*. यह उल्लेखनीय है कि श्री 'म' द्वारा रचित 'वचनामृत' का जो अंश बंगाली पत्रिका 'तत्त्वमंजरी' ८ वाँ खण्ड, ७ भाग, कार्तिक, बंगाब्द १३११) में छपा था, उसके अनुसार ८ अप्रैल १८८३ को अधर श्रीरामकृष्ण के पास पहली बार आये थे। स्पष्ट ही श्री 'म' ने इसे पुस्तकाकार करते समय इसमें संशोधन किया है। लेकिन नरेन्द्रनाथ लाहा ने फिर भी 'तत्त्वमंजरी' की बात को ही स्वीकार किया है (वही, पृ. ३७२)। इसके साथ ही कुमुदबन्धु सेन ने वचनामृत की आन्तरिक घटनाओं की प्रामाणिकता का विश्लेषण करते हुए सुझाव दिया है कि अधर ने ९ मार्च, १८८३ के पूर्व ही श्रीरामकृष्ण के दर्शन किये रहे होंगे। कोई निश्चित तिथि नहीं बतलायी है। (उद्बोधन, चैत्र बंगाब्द १३५६, पृ १५६)। पर कोई अन्य प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध न होने से ९ मार्च १८८३ को ही प्रथम भेंट का दिन स्वीकार कर लेना होगा।

सम्बन्ध में लिखा है : 'श्रीरामकृष्ण आजकल यशोदा की तरह सदा वात्सल्य-रस में मग्न रहते हैं, इसलिए उन्होंने राखाल[८] को साथ रखा है। राखाल के साथ श्रीरामकृष्ण का गोपाल-भाव है। जिस प्रकार माँ की गोदी के पास छोटा लड़का जाकर बैठता है, उसी प्रकार राखाल भी श्रीरामकृष्ण की गोदी के सहारे बैठते थे।'[९ अ]

दोपहर के भोजनोपरान्त श्रीरामकृष्ण थोड़ा विश्राम कर रहे थे। उसी समय अधरबाबू आये थे और साथ ही अन्य दूसरे भक्त भी, जिनमें 'म' एवं राखाल थे, उनके कमरे में एकत्र हुए थे। जैसा कि ऊपर बताया गया है, ऐसा नहीं लगता कि अधरबाबू के साथ अन्य और भी कोई दक्षिणेश्वर आया हो। यद्यपि श्रीरामकृष्ण से अधरबाबू की प्रथम भेंट का वर्णन नहीं लिखा हुआ है, पर ऐसा अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि श्रीरामकृष्ण ने सदैव के ही समान, अधरबाबू के श्रद्धालु व्यक्तित्व को तथा उसके पीछे निहित उनकी उस असामान्य आध्यात्मिक अभिरुचि को ताड़ लिया था, जो उन्हें खींचकर दक्षिणेश्वर ले आयी थी। अधरबाबू की पहली धारणा भी अनुकूल ही प्रतीत हुई। शीघ्र ही उन्होंने अपनी जिज्ञासा प्रकट की, जिसके उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा—

---

८. बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द, श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में एक प्रमुख[illegible]।

९ अ. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' भा. १, पृ० २२२।

"फिर ऐसी भी स्थिति होती है कि सर्वभूतों में ईश्वर को देखता हूँ। चींटियों में भी वे ही हैं। ऐसी स्थिति में एकाएक किसी प्राणी के मरने पर मन में यही सान्त्वना होती है कि उसकी देह मात्र का विनाश हुआ। आत्मा की मृत्यु नहीं है।" ९ब

तदनन्तर अचरज में भरकर अधरबाबू ने श्रीरामकृष्ण के मुख से वे शब्द सुने, जो उनके अन्तर की अनकही चाह की ओर सीधे इंगित करते थे—"अधिक विचार करना ठीक नहीं, माँ के चरण-कमल में भक्ति रहने से ही हो जाएगा। अधिक विचार करने से सब गोलमाल हो जाता है। इस देश में तालाब का जल ऊपर ऊपर से पिओ, अच्छा साफ जल पाओगे, अधिक नीचे हाथ डालकर हिलाने से मैला हो जाता है। इसलिए उनसे भक्ति की प्रार्थना करो।"

इस प्रकार अधर को भक्ति की साधना के लिए प्रेरित कर, उन्होंने निष्काम भक्ति पर जोर दिया। "ध्रुव की भक्ति सकाम थी, उसने राज्य पाने के लिए तपस्या की थी; किन्तु प्रह्लाद की निष्काम अहेतुकी भक्ति थी।"

अन्त में अधर ने श्रीरामकृष्ण को कहते सुना—"फिर साकार मनुष्यरूप में भी वे प्रत्यक्ष हो सकते हैं। अवतार को देखना और ईश्वर को देखना एक ही है। ईश्वर ही युग युग में मनुष्य के रूप में अवतीर्ण होते हैं।"

---

९ ब, वही।

इसके बाद की घटनाओं से अधर को लगने लगा था कि श्रीरामकृष्ण स्वयं इस प्रकार के अवतारी पुरुष हैं।

इस समय श्रीरामकृष्ण का उन पर जो प्रभाव पड़ा था, वह उनकी कल्पना से कहीं अधिक गहरा था। उसने उनकी आत्मा को झकझोर दिया और बौद्धिक संशय की सीमा से उन्हें दुर्निवार रूप से बाहर ला दिया। श्रीरामकृष्ण का उनके प्रति ऐसा आकर्षण था कि कुछ ही महीनों में अधरबाबू के मुँह से शब्द निकल पड़े— "आप बहुत दिनों से यहाँ नहीं आये। मैंने आज भगवान् से प्रार्थना की थी कि आप यहाँ आवें। यहाँ तक कि मेरी आँखों में आँसू भी आ गये थे।" बाद में उन्होंने प्रेम में गद्गद हो श्रीरामकृष्ण से कहा था—"जैसी बात आप कह रहे हैं, सृष्टि के आरम्भ से अब तक ज्यादा से ज्यादा छः ही सात ऐसे हुए होंगे।"[१०] पर इसके बहुत पहले से ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण को गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया था। श्रीरामकृष्ण तो एक अद्भुत गुरु थे, उन्होंने अधरबाबू की अतृप्त आकांक्षाओं तथा अपनी पाश्चात्य शिक्षा एवं साहित्यिक अभिरुचियों के द्वारा प्राप्त उनके समाधान की अपूर्णता को एकदम भाँप लिया था। ज्योंही अधरबाबू की सीमाओं का श्रीरामकृष्ण को पता लगा, उन्होंने अधरबाबू को मार्गदर्शन देने का बीड़ा स्वयं उठा लिया, जिससे वे कम से कम समय में पूर्णता को प्राप्त कर सकें।

---

१० वही, भाग २. पृ. २७५।

अपनी दूसरी भेंट के समय, जो इसके महीने भर के भीतर ही हुई होगी, वे अपने एक मित्र को साथ ले आये जो पुत्र-शोक से विह्वल थे। श्रीरामकृष्ण ने उसे अपने प्रेरणामय शब्दों में न केवल सान्त्वना दी, वरन् अधर बाबू की परिस्थिति के अनुकूल उस विचारधारा का प्रयोग भी प्रदर्शित किया :

"तुम डिप्टी हो। यह पद भी ईश्वर के अनुग्रह से मिला है। उन्हें न भूलना; समझना, सबको एक ही रास्ते से जाना है, यहाँ सिर्फ दो दिन के लिए आना हुआ है।

"संसार कर्म-भूमि है। यहाँ कर्म करने के लिए आना हुआ है, जैसे देहात में घर है और कलकत्ते में काम करने के लिए आया जाता है।

"कुछ काम करना आवश्यक है। यह साधन है...।

"पूरी जिद चाहिए; साधन तभी होता है। दृढ़ प्रतिज्ञा होनी चाहिए।

"उनके नाम-बीज में बड़ी शक्ति है। वह अविद्या का नाश करता है।

"कामिनी-कांचन के भीतर रहने से, वे मन को खींच लेते हैं। सावधानी से रहना चाहिए...।

"मन सदा ईश्वर पर रखना। पहले कुछ मेहनत करनी पड़ेगी; फिर पेन्शन पा जाओगे।"[११]

---

११ वही, भाग १, पृ. २७२।

इस प्रकार दोनों में जो आन्तरिक सम्बन्ध बना, वह उत्तरोत्तर अद्भुत होता गया। सबसे पहले २ जून सन् १८८३ को श्रीरामकृष्ण अधरबाबू के घर गये थे और उसके बाद से तो उनकी ऐसी भेंटें प्रायः ही हुआ करतीं। ये अवसर धार्मिक उत्सव के समान हो जाते और आसपास के बहुत से भक्तों के लिए आनन्द का स्रोत बनते। श्रीरामकृष्ण ने अपने एक दर्शन की बात कही थी, "भावावस्था में देखा—अधर का घर, सुरेन्द्र का घर, बलराम का घर—ये सब मेरे अड्डे हैं।"[12]

जब १८ अगस्त १८८३ को श्रीरामकृष्ण अधरबाबू के घर पर पधारे थे, तब उन्होंने भावस्थ हो अधरबाबू से कहा था, "मेरे बच्चे, उसी इष्ट का ध्यान करो, जिसका तुमने कीर्तन किया।" ऐसा कह, उन्होंने अधर-बाबू के होंठों पर अपनी उँगली से कुछ लिख दिया। जैसी कि 'म' महाशय की धारणा थी, यह लगभग निश्चित लगता है कि इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने अधर-बाबू के अन्दर आध्यात्मिकता संचारित कर दी।

फिर भी यह स्पष्ट था कि अधरबाबू के भीतर कुछ वासनाएँ बनी हुई थीं, उनमें "योग और भोग दोनों थे।"[13] यद्यपि श्रीरामकृष्ण ने उनके सामने प्रह्लादवाली निष्काम भक्ति का उदाहरण रखा था, पर साथ ही तामसिक भक्ति पर भी जोर दिया था, जिसमें भगवान्

---

१२ वही, " ३, पृ. १६४।
१३ वही, भाग २, पृ० ४६६।

से अपनी कामना-पूर्ति के लिए जोर देकर हठ भी किया जा सकता है। श्रीरामकृष्ण के उपदेशों पर पूर्णरूपेण आस्था रखकर अधरबाबू आगे बढ़ चले, उनकी भगवान लाभ की इच्छा तीव्र होने लगी; उनकी दक्षिणेश्वर-यात्रा प्रायः रोज ही होने लगी।[१४] फिर भी श्रीरामकृष्ण उन्हें प्रायः ही स्मरण दिला देते," यह सब अनित्य है। शरीर अभी अभी है, अभी अभी नहीं। जल्दी जल्दी उन्हें पुकार लेना चाहिए।"[१५]

यह सब होते हुए भी कोई भी अधरबाबू के मेधावी जीवन की अकाल समाप्ति के लिए तैयार न था। वे ६ जनवरी १८८५ को मानिकतला के निरीक्षण-दौरे से वापस आते हुए अपने घोड़े पर से गिर पड़े। श्रीरामकृष्ण ने बाद में देखा था कि घोड़े पर चढ़े हुए अधरबाबू को अपने इष्ट के अद्‌भुत दर्शन हुए थे। फलस्वरूप, वे भावाधिक्य में विभोर हो अपना सन्तुलन खो घोड़े से गिर पड़े थे।[१६] उनके बायें हाथ की कलाई की हड्डी कई जगह से टूट गयी और उत्तम धनुर्वात पैदा हो गया। उससे उनकी १४ जनवरी को मृत्यु हो गयी। शोक-सभा की

१४ ,, ,, पृ० ५७७।

१५ ,, ,, पृ० ८०।

१६ 'श्रीरामकृष्ण भक्तमालिका', भाग २, लेखक- स्वामी गम्भीरानन्द, प्रकाशक, रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम संस्करण, पृ० २७२। बहुत पहले से ही श्रीरामकृष्ण ने उन्हें घोड़े की सवारी के सम्बन्ध में सावधान कर दिया था। किन्तु भवितव्य का खण्डन कौन कर सकता है!

अध्यक्षता करते हुए एच. जे. एस. कॉटन ने ठीक ही कहा था, "जब हम उनका (अघरबाबू का) स्थान रिक्त देखते हैं और यह विचार करते हैं कि उनकी अकाल मृत्यु से कितनी आशा निराशा में बदल गयी है, कितनी उज्ज्वल सम्भावना छलना बन गयी है, तो यह सम्भव नहीं कि एक हताशा और गहरे दुःख का भाव हमें न जकड़ें।"[१७]

१७ नरेन्द्रनाथ लाहा, वही, पृ० ३७८।

विभीषण-शरणागति (४/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्याय जी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'विभीषण-शरणागति' पर एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख उसी के चौथे प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रम-साध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके आभारी हैं।—स०)

पिछली तीन चर्चाओं में हमने देखा कि कैसे विभीषण समुद्र को पार कर भगवान् श्री राम के पास पहुँचते हैं। यह भी देखा कि जिस समुद्र को पार कर विभीषण श्री राम के पास जाते हैं, उसका पार करना सम्भवत: उतना कठिन नहीं था, जितना कठिन उन समुद्रों को पार करना था, जिन्हें विभीषण ने अपने जीवन में पार किया और जिनको पार करते समय उनकी यात्रा में कभी कभी अवरोध भी उत्पन्न हुआ। हम इन चर्चाओं में विभीषण के पूर्वजन्म की यात्रा का भी वर्णन करते रहे और यहाँ तक पहुँचे कि धर्मरुचि भी विभीषण के नाम से राक्षस कुल में जन्म लेते हैं और रावण एवं कुम्भकर्ण के छोटे भाई बनते हैं। रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण इन तीनों भाइयों की साधना एक साथ प्रारम्भ होती है और तीनों को वरदान देने के लिए भगवान् शंकर और ब्रह्मा आते हैं। यहाँ पर साधना की बड़ी स्वाभाविक

प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। ध्यान रखिएगा, यदि किसी साधक को शंकरजी या ब्रह्मा के दर्शन हो जायँ, अथवा हनुमान्‌जी या साक्षात् भगवान् राम या श्रीकृष्ण के ही दर्शन क्यों न हो जाय, उससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह दर्शन ही सबसे बड़ी उपलब्धि है। भगवान् शंकर सत्पुरुष को भी दर्शन देते हैं और उन लोगों के सामने भी प्रकट होते हैं, जो दुष्ट हैं, दैत्य हैं, राक्षस हैं। इसका एक आध्यात्मिक तात्पर्य है? हम शिव को क्या मानते हैं? शिव का एक स्वरूप वह है जिसे हम चित्रों में, मूर्तियों में देखते हैं, जिसका हम कवित्वपूर्ण वर्णन पढ़ते हैं। शिवतत्त्व का एक दूसरा स्वरूप है, जो भक्तों के काम का है—**'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ'** जहाँ शिव को मूर्तिमन्त विश्वास के रूप में देखा गया है। शिवतत्त्व का तीसरा स्वरूप वह है, जहाँ शिव को विराट् या समष्टि अहंकार माना गया है—

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥ ६/१५ (क)

जैसे एक व्यक्ति के शरीर होता है, उसी प्रकार यह सारा विश्व ईश्वर का विराट् शरीर है, और जैसे व्यक्ति के शरीर में भिन्न भिन्न अंग होते हैं, उसी प्रकार विश्व के विभिन्न व्यक्ति उस विराट् ईश्वर के एक एक अंश या अंग हैं। इन अंगों में शिवजी को 'अहंकार' माना गया है। जैसे एक व्यक्ति का अहंकार उसके 'मैं' कहने से ध्वनित होता है, उसी प्रकार समष्टि का

जो चेतन 'मैं' है, उसी का नाम है शिव। रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण इन तीनों को उनकी उनकी साधना का फल देने के लिए तीन व्यक्ति नहीं आते, एक ही आते हैं। इस ... भिप्राय यह है कि व्यष्टि में जो कम होगा, उसका स ... र पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। आप हवन ... ए। अग्नि में आहुति दीजिए। उससे निकलनेवाली सु ...न्ध चारों ओर फैलकर व्याप्त हो जायगी। इसी प्रकार व्यष्टि चेतना में जो कर्म होता है, उसका परिणाम समष्टि चेतना से प्राप्त होता है; और वह व्यक्ति की योग्यता-अयोग्यता को देखकर नहीं मिलता, बल्कि उसके किये हुए कर्म के परिणामस्वरूप प्राप्त होता है। जैसे, यदि एक बुरा व्यक्ति आम का वृक्ष लगावे तो उसे भी उसी तरह आम का फल प्राप्त होगा, जैसे एक सज्जन व्यक्ति को आम का वृक्ष लगाने पर मिलेगा। ऐसा नहीं होगा कि दुर्जन को अपने लगाये आम के वृक्ष से कड़ुवा फल प्राप्त हो और सज्जन को अपने लगाये वृक्ष से मीठा। प्रकृति अपने नियम से काम करेगी। इसमें अपवाद भी होते हैं, पर अपवाद नियम नहीं होते। मतलब यह हुआ कि व्यष्टि चेतना में जो व्यक्ति साधना करेगा, वह चाहे दुर्जन हो या सज्जन, उसे अपनी साधना का परिणाम अवश्य मिलेगा।

इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं, तो देखते हैं कि जैसे देवता को अपनी साधना के फलस्वरूप सिद्धि या चमत्कार हासिल होता है, वैसे ही दैत्य को भी; जैसे एक

सत्पुरुष को, वैसे ही दुष्ट व्यक्ति को भी। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि चमत्कारों को, सिद्धियों को महात्मापन से जोड़ दिया गया है। वास्तव में ये चमत्कार जैसे एक महात्मा में हो सकते हैं; वैसे ही एक दुरात्मा में भी। जब मैं लोगों को चमत्कारों को इतना अधिक महत्त्व देते हुए देखता हूँ, तो कभी कभी सोचता हूँ कि यदि रावण आज के युग में होता, तो सबसे बड़ा महात्मा माना जाता; क्योंकि जितने चमत्कार रावण में हैं, उतने, क्षमा करेंगे, मैं तो कहूँगा कि भगवान् राम में भी नहीं हैं। भगवान् राम ने अपने सारे चरित्र में कहीं कोई चमत्कार नहीं दिखाया, जबकि रावण के चरित्र में चमत्कार ही चमत्कार भरे पड़े हैं। समुद्र को पार करने के लिए श्री राम को कितना बड़ा प्रयास करना पड़ा, पर रावण क्या कभी ऐसा प्रयास करता है? वह तो आकाशमार्ग से जब चाहे उड़कर चला जाता है! वह तो भगवान् राम ही हैं, जो समुद्र के किनारे अनशन करते हैं, फिर बाण चढ़ाते हैं, फिर पुल बनवाते हैं और उस पुल के सहारे सागर पार होते हैं। इसके विपरीत, जब हम रावण को देखते हैं, तो उसमें इतने चमत्कार, इतनी अलौकिकताएँ दिखायी देती हैं, जिनकी कोई सीमा नहीं। चमत्कार कोई महात्मापन का लक्षण नहीं है। सम्भव है किसी महात्मा में चमत्कार हो और किसी में चमत्कार बिलकुल न हो। चमत्कार तो किसी साधनाविशेष का परिणाम होता है। यदि किसी महात्मा में कोई चमत्कार या सिद्धि प्रकट

हो, तो वह उसका सदुपयोग करेगा और अगर किसी दैत्य या राक्षस को सिद्धि या चमत्कार प्राप्त हो, तो वह उसका दुरुपयोग करेगा। यदि हम ध्यान से पौराणिक ग्रन्थों का अध्ययन करें तो हमारी यह भ्रान्ति मिट जाएगी कि चमत्कार और महात्मापने का कोई सम्बन्ध है।

तो, रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण साधना करने बैठे हैं। पहला रजोगुणी है, तो दूसरा तमोगुणी और तीसरा सत्त्वगुणी। तीनों समान काल तक साधना करते हैं और तीनों को वरदान देने के लिए शंकरजी आते हैं। पर वे अकेले नहीं आते, उनके साथ ब्रह्माजी भी आते हैं। ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं, विवेक के प्रतीक हैं—'बुद्धि मज'। वे इसलिए शंकरजी के साथ आते हैं कि कभी कभी शंकरजी अकेले जाकर बड़े संकट में पड़ जाते हैं। साधक जो वरदान माँगता है, शंकरजी तुरन्त दे देते हैं, इससे बाद में कभी कभी बड़ी अड़चनें पैदा हो जाती हैं। इसीलिए विवेक के देवता ब्रह्माजी साथ में रहकर यह चेष्टा करते हैं कि शंकरजी बिना सोचे-विचारे 'तथास्तु' न कह दें, भले ही वे बहुत रोक नहीं लगा पाते। जब वे दोनों रावण के पास पहुँचे और पूछा कि क्या चाहते हो, तो रावण ने झट कहा—'हम काहू के मरहीं न मारें' (१/१७६/४)—'हम किसी के मारे न मरें।' अब यह अज्ञान का लक्षण है। रावण शरीर को 'हम' मानता है। वैसे तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो 'हम' कभी मरता नहीं, वह तो जीवत्व को प्रदर्शित करता है

और जीव कभी मरता नहीं। पर रावण तो शरीर के प्रति इतना आसक्त है कि उसे सदा के लिए अमर बना लेना चाहता है। वह देखता है कि शंकरजी के साथ ब्रह्माजी भी खड़े हैं। अब, व्यक्ति यदि कोई वचन देगा, तो उसे विधि के अनुकूल ही देना पड़ेगा। जैसे आप किसी मंत्री से कोई काम कराने के लिए मिलें, तो मंत्री अपने सचिव को बुलाकर पूछेगा कि यह काम नियम के अनुकूल है या नहीं। उसे संविधान का ख्याल रखना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार शंकरजी के साथ ब्रह्माजी के भी चलने का तात्पर्य है। ये ब्रह्मा साक्षात् विधि ही तो हैं। मानो शंकर जी के साथ संविधान भी चल रहा है। तभी तो ज्योंही रावण ने वरदान माँगा कि हम किसी के मारे न मरें, तुरन्त ब्रह्माजी बोल उठे—यह मृत्युलोक है, यहाँ अमरता का विधान नहीं है। रावण सोच में पड़ गया। उसका अहंकार जाग उठा। उसने अपना एक अलग गणित तैयार कर लिया। उसने मन ही मन कहा—ठीक है, दुहाई दे लो अपने संविधान की; मैं तो वह लेकर ही रहूँगा, जो तुम नहीं देना चाहते। आखिर मुझमें बुद्धि कोई कम तो है नहीं। भले ही तुम दोनों मिलकर आये हो, फिर भी बुद्धि में मुझसे कम ही पड़ोगे। ब्रह्मा के चार और शंकर के पाँच सिर मिल भी जायँ, तो भी कुल नौ ही सिर बनेंगे, और मेरे तो दस सिर हैं!

अब, यह नौ और दस का झगड़ा बड़ा पुराना है। आप नौ और दस का अर्थ जानते होंगे? भगवान् राम ने इसकी बड़ी साहित्यिक व्याख्या की। जब शबरीजी से

उनका मिलन हुआ, तो शबरी ने कहा कि प्रभु, मैं तो नीच जाति की हूँ। इस पर प्रभु बोले—मुझे जाति से क्या लेना है? और उस समय प्रभु ने दस वस्तुओं का खण्डन किया तथा नौ का समर्थन। वे बोले—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥ ३/३४/५

ये दस कैसे हैं ?—

भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥ ३/३४/६

और इसके तुरन्त बाद कहते हैं—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। ३/३४/७

तो, यह क्या विचित्र विरोधाभास नहीं है ? दस व्यर्थ हैं और नौ ठीक? क्या तात्पर्य है ? भगवान् राम की दृष्टि में दस बड़ा क्यों नहीं है ? वे मानो कहते हैं कि भले ही एक संसारी, एक स्थूल दृष्टिवाला दस को बड़ा माने, पर मैं तो, और एक सूक्ष्म दृष्टिवाला व्यक्ति भी नौ को ही बड़ा मानता है। आप साधारण गणित की दृष्टि से देखिए तो दस बडा दिखता है, पर अन्तरंग में पैठकर विचार कीजिए तो नौ ही बड़ा मालूम पड़ेगा। किसी विद्यार्थी को एक अंक की सबसे बड़ी संख्या लिखने कहिए, तो वह 'नौ' लिखेगा। दो अंक की सबसे बड़ी संख्या लिखने कहें, तो वह दो नौ लिखेगा। तीन अंक की सबसे बड़ी संख्या लिखने के लिए कहने पर तीन नौ लिखेगा। जब बड़े की बात आएगी, तो नौ ही लिखा

जाएगा, दस नहीं। फिर, अंक तो बस नौ ही तक है। तब यह दस क्या है ? एक माने सबसे कम दामवाले अंक ने शून्य माने जिसका कोई दाम ही नहीं है उससे समझौता किया कि चलो, हम दोनों मिलकर नौ को हरा दें। पर दस का यह उधार लिया हुआ बड़प्पन नौ के एकरस बड़प्पन के सामने टिक नहीं सकता। जब दो अंकों की सबसे बड़ी संख्या लिखने की बात आती है, तो निन्यानबे लिखना पड़ता है और सबसे छोटी संख्या लिखने की बात आने पर दस। इसी प्रकार संसार में यह जो जाति-पाँति आदि के द्वारा प्राप्त बड़प्पन है, वह उधार बड़प्पन है। यह कितने दिन तक रहेगा ? इस जन्म में आपने एक जाति में जन्म लिया। पिछले जन्म में आप किस जाति में थे और अगले जन्म में किस जाति में रहेंगे, यह कौन बता सकता है ? जो व्यक्ति जाति, पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, परिजन, गुण, चतुराई का बड़प्पन लेकर बड़ा बनता है, वह वस्तुत: शून्य कल्पित बड़प्पन है, केवल बाहर से दिखलायी देनेवाला बड़प्पन है। और नौ कैसा है ? वह तो—

> **दुगुनो तिगुनो चौगुनो पाँच छठ अरु सात।**
> **आठहुँ ते पुनि नौगुनो नौ के नौ रहि जात॥**

—नौ ऐसा है कि वह कभी परिवर्तित नहीं होता, सदैव एकरस बना रहता है। तभी तो जब गोस्वामीजी ने लंका की वृद्धि का वर्णन किया, तो उन्होंने अपनी अपूर्व काव्यशैली में उन दस वस्तुओं का उल्लेख किया,

जिनमें वृद्धि हो रही है—

> सुख संपति सुत सेन सहाई ।
> जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ।।
> नित नूतन सब बाढ़त जाई । १/१७९/१-२

--लंका में दस की वृद्धि हो रही है। रावण दस-मुख है, इसलिए दस के प्रति उसकी महत्त्वबुद्धि है। और आज भी दस और नौ का झगड़ा है। ब्रह्मा और शंकर के सिर मिलकर नौ और रावण अकेले के दस सिर ! रावण समझता है कि मैं इन दोनों से अधिक बुद्धिमान हूँ। प्रत्येक असुर यही मानता है कि देवता शक्तिमान् तो हैं, पर बुद्धिमान् नहीं। हम भी रावण ही की तरह देवताओं को शक्तिशाली तो मानते हैं, पर बुद्धिमान् नहीं मानते। यदि रावण और कुम्भकर्ण का यह विश्वास होता कि देवता शक्तिशाली होने के साथ साथ हमसे अधिक बुद्धिमान भी हैं, तो वे कह देते कि महाराज, हमारे हित में जो उचित हो, वह वरदान दे दीजिए। पर उन्हें ऐसा विश्वास कहाँ ? रावण यह तो मानता है कि देवता जो वरदान देंगे, वह फलीभूत होगा, पर वह देवता की बुद्धिमत्ता को अपनी से कम मानता है, इसीलिए देवता को बताता है कि वे उसे क्या वरदान दें। क्या हम भी रावण की भाँति नहीं हैं ? हम देवताओं को शक्तिशाली मानकर उनकी पूजा तो करते हैं, पर हमें उनकी बुद्धिमता पर सन्देह बना रहता है कि कहीं वे अपने मन से अर्थ लगाकर कुछ का

कुछ न कर बैठें। इसलिए हम देवताओं को स्पष्ट बता देते हैं कि महाराज, मेरा हित इसमें होगा कि आप मुझे इतना रुपया दे दीजिए या अमुक दे दीजिए। और उसके बाद भी हम डर जाते हैं कि कहीं ये देवता अपना गणित लगाकर वरदान देने में देर न कर दें, इसलिए हम यह भी जोड़ देते हैं कि महाराज, इतने दिनों में जरूर दे दीजिए!

अब, रावण और कुम्भकर्ण देवभक्ति की आराधना करते हुए तो दीखते हैं, पर इस कारण क्या उन्हें अध्यात्मवादी माना जायगा? नहीं, वे अध्यात्मवादी नहीं हैं, वे तो आसुरी वृत्तिवाले हैं, भौतिकवादी हैं। हम साधारणतः भौतिकवादी और अध्यात्मवादी का यह अर्थ ले लेते हैं कि जो व्यक्ति ईश्वर को नहीं मानता, शक्ति को स्वीकार नहीं करता, वह भौतिकवादी है और जो ईश्वर या शक्ति को मानता है, वह अध्यात्मवादी है। पर क्या जो लोग ईश्वर या देवताओं को मानने का दावा करते हैं, वे सब अध्यात्मवादी होते हैं? वास्तव में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का अन्तर सूक्ष्म है। जो व्यक्ति यह मानता है कि प्रकृति की सारी शक्तियाँ जड़ हैं और इन शक्तियों को हमारी इच्छा के अनुसार चलना चाहिए, वह भौतिकवादी है, फिर भले ही वह मंत्रों का जप करता हो अथवा विज्ञान के यंत्रों का प्रयोग। अध्यात्मवादी वह है, जो प्रकृति की शक्तियों को चेतन मानता है और उनके अनुकूल चलने की चेष्टा करता है। जिसके अन्तःकरण में यह विश्वास है कि

ब्रह्मा और शिव चेतनतत्त्व हैं तथा हमारी व्यष्टि-चेतना की अपेक्षा ये महत् हैं, इसलिए हमारी अपेक्षा इनका विवेक श्रेष्ठ है, वह अध्यात्मवादी है। केवल देवताओं की पूजा या पाठ आदि मात्र करने से कोई व्यक्ति अध्यात्मवादी या धार्मिक नहीं हो जाता। ऐसी भ्रान्ति को मन से निकाल देना चाहिए।

तो, अब रावण ने वरदान माँगा कि हम किसी के मारे न मरें, ब्रह्माजी ने आपत्ति की और कहा कि इस मर्त्यलोक में किसी को अमरता का वरदान नहीं मिल सकता। इस पर रावण ने तुरत कहा—अच्छा, तो हम एक वाक्य और जोड़ देते हैं—**'बानर मनुज जाति दुइ बारें'** (१/१७६/४)—हम बन्दर और मनुष्य को छोड़कर और किसी से न मरें। रावण सोचता है कि वह कितना बुद्धिमान् है, उसका गणित अब ब्रह्मा और शिव को हरा देगा। वह विचार करता है कि **'नर कपि भालु अहार हमारा'** (६/७/९)—मनुष्य और बन्दर-भालू तो हमारे भोजन हैं। भोजन से शरीर की शक्ति बढ़ती है। मरने की सम्भावना तो देवताओं से ही है। अगर इन लोगों से वरदान की शक्ति के द्वारा हम न मरें, तो बन्दर-भालू और मनुष्यों को तो हम स्वयं खा लेंगे और अमर हो जाएँगे। शंकरजी ने मुसकराकर कह दिया—"एवमस्तु"। जब वे लौटकर आये, तो पार्वतीजी ने पूछा—"रावण ने क्या वरदान माँगा?" शंकरजी बोले —"क्या बताएँ उसने अपनी मृत्यु माँगी!"—'रावन

मरन मनुज कर जाचा’ (१/४८/१)। पार्वतीजी बोलीं—“महाराज, साधना कोई मृत्यु के लिए करता है या अमरता के लिए?” शंकरजी ने कहा, “यही तो दैत्यत्व है, चेष्टा करता है अमर होने की, पर उसकी यह चेष्टा ही उसे मृत्यु की ओर ले जाती है।”

तत्पश्चात् ब्रह्मा और शंकर कुम्भकर्ण के सामने गये। उसके विशाल शरीर को देख ब्रह्मा घबराये। वह यह वर माँगने का विचार कर रहा था कि हम छह महीने जागते रहें और एक दिन सोने से काम चल जाय। वह खाने-पीने का बड़ा प्रेमी था, उसने सोचा—भोजन नींद में तो होता नहीं, छह महीने जगेंगे तो छककर भोजन करेंगे। ब्रह्माजी को लगा—

जौं एहिं खल नित करब अहारू।
होइहि सब उजारो संसारू॥ १/१७६/७

—जो यह दुष्ट नित्य आहार करेगा, तो सारा संसार ही उजाड़ हो जायगा! यह भी ईश्वर का एक सुन्दर विधान है कि संसार में कई लोग तमोगुणी प्रवृत्ति के होते हैं और यदि बहुत से लोग इकट्ठा हो जायें, तो सब कुछ खा डालेंगे—अपनों को खाएँगे, दूसरों को खाएँगे। यह विपत्ति देख ब्रह्माजी ने अपनी कला का थोड़ा उपयोग किया। उन्होंने सरस्वती को प्रेरित किया कि कुम्भकर्ण का विचार बदल दो। सरस्वती ने वही किया और कुम्भकर्ण ने उलटा वरदान माँग लिया कि महाराज, छह महीना सोएँ और एक दिन जागें—

सारद प्रेरि तासु मति फेरी ।
मागेसि नीद मास षट केरी ॥१/१७६/८

रावण में यदि रजोगुण की प्रेरणा जागी, तो कुम्भकर्ण में तमोगुणी प्रेरणा का जन्म हो गया और ब्रह्माजी के लिए लोक-कल्याण की दृष्टि से यह अपेक्षित हो गया कि वे ऐसी तमोगुणी प्रवृत्ति से संसार की रक्षा करें। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी 'विनयपत्रिका' में हमें बताया ही है कि रावण और कुम्भकर्ण मोह और अहंकार के प्रतीक हैं—'**मोह दसमौलि तद् भ्रात अहंकार**' (५८/४) और मोह तथा अहंकार की प्रवृत्तियों में अन्तर है। मोह में यदि संग्रह की वृत्ति है, तो अहंकार में खाने की। अहंकारी व्यक्ति सबको खाना चाहता है। संसार में जितनी टकराहट है, वह अहंकार को—'मैं' को लेकर होती है। अहंकारी व्यक्ति के अहं पर बात बात में चोट लगती है और इसलिए वह बात बात में लड़ उठता है। ऐसी स्थिति में उसका समाज में उठना-बैठना असम्भव हो जाता है। आप सब इतने लोग यहाँ पर शान्ति से बैठे हुए हैं, इसका मतलब यही है कि आपके भीतर का कुम्भकर्ण सो रहा है। यह ब्रह्माजी की हम पर कृपा है कि उन्होंने सरस्वती को प्रेरित कर कुम्भकर्ण के लिए छह महिने सोने और एक दिन जागने के वरदान की व्यवस्था कर दी। छह महीने के एक चक्र में यदि अहंकार एक दिन जागता भी है, तो ऐसा अहंकार चल सकता है।

तो, इस प्रकार रावण और कुम्भकर्ण को वरदान देकर जब ब्रह्मा और शंकर विभीषण के पास पहुँचे, और उसे वरदान माँगने के लिए कहा, तो विभीषण ने एक सत्त्वगुणी व्यक्ति के अनुरूप ही वरदान माँगा। शंकरजी विभीषण को 'पुत्र' कहकर सम्बोधित करते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

गए बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर मागु। (१/१७७)

वैसे, पुत्र तो रावण भी था, और कुम्भकर्ण भी। पर शंकरजी ने विभीषण को ही 'पुत्र' कहकर सम्बोधित किया, क्योंकि विभीषण एक चतुर पुत्र हैं। चतुर पुत्र वह है, जो पिता की सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त करे। शंकरजी की सम्पत्ति क्या है? जब वे किसी पर प्रसन्न होते हैं, तो वरदान क्या देते हैं?—

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि।
भगति मोरि तेहि संकर देइहि ६/२/३

—भक्ति का। भक्ति ही शंकरजी का परमधन है। अतः इस चतुर पुत्र ने भक्ति का ही वरदान माँगा—

तेहिं मागेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु॥ १/१७७

इस प्रकार तीनों को वरदान प्राप्त हो गया और तीनों को ब्रह्मा एवं शंकरजी के दर्शन भी हो गये। अब ऐसा लगता है कि जब विभीषण ने भक्ति का वरदान प्राप्त कर लिया, तब जीवन में उन्हें और क्या चाहिए? पर नहीं, गोस्वामीजी की दृष्टि में अभी विभीषण का जीवन अपूर्ण ही है। वे यहीं पर साधना का तत्त्व प्रकट करते हैं। भले ही विभीषण इतनी ऊँची स्थिति में पहुँच गये

थे और उन्होंने इतनी उत्कृष्ट साधना एवं तपस्या की थी, भले ही विभीषण को जो कुछ वरदान मिला वह बड़ा महत्त्वपूर्ण था, तथापि उनके जीवन में भक्ति की जैसी परिणति होनी चाहिए थी, वैसी नहीं हुई। यह ऐसी स्थिति है, जिसे हर साधक अपने जीवन में देख सकता है। भले ही साधक अपनी अत्युच्च साधना के बल पर दिव्य शक्तियों का साक्षात्कार कर ले, पर उससे उसके जीवन में परिवर्तन घटा हो यह सामान्यतया नहीं देखा जाता। इसका कारण हम विभीषण के जीवन में देख सकते हैं। ऐसी बात नहीं कि तपस्या करके वरदान लेकर लौट आने के बाद से विभीषणजी ने साधना छोड़ दी हो। बल्कि लौटकर लंका आने के बाद से तीनों भाइयों की प्रवृत्ति अलग अलग परिलक्षित हो रही है।। विभीषण के लिए भगवान् का मन्दिर है। हनुमान्जी जब लंका में जाते हैं, तो वे आश्चर्यचकित होकर देखते हैं कि विभीषण के लिए एक हरिमन्दिर बनाया गया है। वहाँ तुलसी के वृन्द और पुष्प लगाये गये हैं। विभीषणजी मन्दिर में भगवान् की नित्य पूजा करते हैं, माला पर जप करते हैं, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाते। यह सब होते हुए भी उनके जीवन में जो गति थी, उसमें अवरोध उत्पन्न हो जाता है। यह प्रत्येक जीव के, साधक के जीवन का एक शाश्वत सत्य है। इसका कारण यह है कि जीव के जीवन में दुहरी प्रक्रिया चला

रूप दियायी देते हैं—एक है रावण, जो जाग्रत् अवस्था में है और दूसरों को निरन्तर उत्पीड़ित कर रहा है। दूसरा है कुम्भकर्ण, जो सुषुप्ति में निष्क्रिय पड़ा हुआ है और जब सक्रिय होगा, तब बड़ी समस्या उत्पन्न करेगा। और तीसरा है विभीषण, जो पूजा कर रहा है। जीव ऐसी तीन प्रवृत्तियों में बँटा हुआ है और उसकी ये तीनों प्रवृत्तियाँ आपस में टकराती रहती हैं। वह जागते में कुछ व्यवहार करता है, स्वप्न में उसकी समस्या कुछ होती है और सुषुप्ति में वह और ही प्रकार का जीवन व्यतीत करता है। उसके भीतर का रावण जाग्रत् का दुरुपयोग करता है, कुम्भकर्ण सुषुप्ति का और विभीषण स्वप्न का। विभीषण की साधना तो तुरीय में होनी चाहिए थी, पर वह स्वप्न में होती है। आप तुरीय और स्वप्न की साधनाओं का पार्थक्य जानते ही होंगे। तुरीय—समाधि—में भी दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं और स्वप्न में भी मनुष्य विविध अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। पर स्वप्न की एक समस्या है। कभी हमें अच्छा स्वप्न आता है, कभी बुरा। कभी स्वप्न में लगता है कि हम पूजा कर रहे हैं, मन्दिर देख रहे हैं, तो कभी स्वप्न में हम अपने को सुरापान में मत्त देखते हैं और कभी अनाचार में प्रवृत्त। इस प्रकार स्वप्न वह अवस्था है, जहाँ अपनी अनुभूतियों पर हमारा नियंत्रण नहीं है और तुरीय वह है, जहाँ पर हमारी अनुभूतियाँ नियन्त्रित रहती हैं। साधारणतः हम ऐसी स्वप्न की अवस्था में ही जीते हैं, जहाँ हमारे अन्तःकरण में

अच्छाई और बुराई दोनों दिखायी देती रहती हैं, पर हमारा उन पर कोई अधिकार नहीं प्रतीत होता। विभीषण का जीवन ठीक इसी प्रकार का है। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक जीव मोह और अहंकार का छोटा भाई बना हुआ है, मोह और अहंकार के शासन में रहकर भक्ति-पूजा या साधना करता है, तब तक वह सच्चे अर्थों में कभी भी चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। इसे यों कह लीजिए कि जो समझौतावादी होता है, वह साधक नहीं हो सकता। विभीषण रावण से एक समझौता कर लेते हैं। वे सोचते हैं कि रावण भले ही संसार पर अत्याचार करता हो, पूजा-पाठ और भक्ति रोकता हो, पर वह मुझे तो कम से कम भक्ति और पूजा की सुविधा देता है, अतः जब रावण हमारे प्रति सहिष्णु है, तो हम भी उसके प्रति सहिष्णु बने रहें। पर यह निश्चित जान रखिए कि समझौता साधक का लक्ष्य नहीं है, वह तो विषयी का लक्ष्य है। और अगर कोई व्यक्ति साधक होने के बावजूद समझौता करता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि वह साधक नहीं है। साधक तो लड़ता है, झगड़ा करता है। समझौतावादी तो किसी से कटुता उत्पन्न करना नहीं चाहता, वह तो बस किसी प्रकार शान्ति से जीवन बिता लेना चाहता है, उसके जीवन का कोई परम लक्ष्य नहीं होता, वह निरन्तर सबसे समझौता करता रहता है, क्योंकि उसे किसी तरह से जी भर लेना है। पर जिस व्यक्ति को जीवन में कोई लक्ष्य प्राप्त करना है,

वह क्या समझौता करके चल सकता है ? कल्पना कीजिए कि एक सैनिक है, जो युद्धक्षेत्र में लड़ रहा है और एक दूसरा व्यक्ति है, जो घर में बैठा हुआ है। हमें बाहर से तो यही लगेगा कि घर में बैठा हुआ व्यक्ति मजे में है, क्योंकि उसे मोर्चेवाले के समान संघर्ष नहीं करना पड़ता, गोले-बारूद का सामना नहीं करना पड़ता, तथापि क्या यह भी सत्य नहीं है कि घर में बैठा हुआ व्यक्ति वस्तुतः पशु का जीवन जी रहा है ? जो संघर्ष करता है, उससे डरता या भागता नहीं, विजय उसी को तो मिला करती है। तो, साधक का रास्ता संघर्ष का रास्ता है, समझौते का नहीं, घर में चुप बैठने का नहीं। विभीषण ने रावण और कुम्भकर्ण से समझौता कर लिया। रावण उनके प्रति सहिष्णु है तो वे भी रावण के प्रति सहिष्णु हैं। वे कुम्भकर्ण को भी सह लेते हैं, क्योंकि वह छह महीने में एक ही दिन तो जागता है ! इसका अर्थ यह कि एक साधक जिसे छह महीने तक अहंकार नहीं आता और उसके बाद एक दिन आ जाता है और वह यह कहकर सन्तोष कर लेता है कि चलो, एक दिन आया तो आया, पर छह महीने तो हम अहं से मुक्त रहे, वह साधक नहीं है। साधक तो वह है, जो विचार करता है कि भले ही अहंकार छह महीने नहीं आया, पर एक दिन के लिए आकर उसने कितना क्या खा डाला ! गोस्वामीजी कुम्भकर्ण के जागने के प्रसंग में बड़ा मनोवैज्ञानिक संकेत देते हैं। वे लिखते हैं—

जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा। ६।१७९।४

—उसके जागते ही तीनों लोकों में तहलका मच जाता था। वह सब उठाकर खा जाता था। कुम्भकर्ण का चित्र यह दर्शाता है कि साधक के जीवन में वर्षों के बाद भी यदि एक दिन अहंकार आ जाय, तो वह कैसे उसके सारे पुण्यों और साधनाओं को खा जाता है। अतएव साधक को इससे सन्तोष नहीं मान लेना चाहिए कि उसका अहंकार छह महीने सोता है, बल्कि उसे तो अहंकार को जड़-मूल से नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न ही हमें जीवन में सच्ची उपलब्धि कराता है। विभीषण के जीवन में यह प्रयत्न नहीं है। इसीलिए वे अहंकार के साथ समझौता करके रहते हैं। पर अहंकार के साथ समझौता कितना खतरनाक होता है, यह गोस्वामीजी कुम्भकर्ण के प्रसंग के माध्यम से हमारे समक्ष रखते हैं। हमारे जीवन में यदा-कदा जब अहंकार आ जाता है, तो उसे हम उतना बुरा नहीं मानते। हम यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि लोग तो नित्य दूसरों की बुराई में लगे रहते हैं, हमने यदि कभी कभी कर दी, तो क्या हो गया! लोग तो नित्य अहं से ग्रस्त रहते हैं, फिर हम यदि कभी कभी अहं से ग्रस्त हो गये, तो क्या दोष! इस दोष का पता हमें लंकाकाण्ड से चलता है, जहाँ यह बताया गया है कि एक दिन भी यदि अहं जागृत हो जाय, तो जीवन में कैसी दुर्दशा ला देता है।

जब रावण की आधी सेना मारी जाती है, तो वह आकर कुम्भकर्ण को जगाता है। कुम्भकर्ण लड़ने के लिए युद्ध भूमि की ओर जाता है। गोस्वामीजी उसके जाने का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

कुंभकरन दुर्मद रन रंगा।
चला दुर्ग तजि सेन न संगा ॥ ६/६३/ २

—'अहंकार के मद में चूर, रण के उत्साह से भरा हुआ कुम्भकर्ण किला छोड़कर चला, सेना भी साथ नहीं ली।' यह गोस्वामीजी के वर्णन की विशेषता है कि वे कथा के साथ साथ अध्यात्म का तत्त्व रखना नहीं भूलते। रावण जब लड़ने चलता है, तो सेना लेकर। मेघनाद भी सेना लेकर लड़ने जाता है। किन्तु कुम्भकर्ण सेना साथ नहीं लेता। रावण पूछता है—कितनी सेना साथ दे दें ? कुम्भकर्ण कहता है—हम अकेले ही बहुत हैं। इसका अर्थ यह है कि अन्य बुराइयों को तो दूसरे सब दुर्गुणों की आवश्यकता होती है, पर अहंकार महोदय अकेले इतने यथेष्ट हैं कि उन्हें और किसी की आवश्य-कता नहीं ! इसका व्यावहारिक अर्थ यह है कि कुम्भकर्ण ने सोचा—यदि सेना साथ जाएगी, तो मेरे जीतने पर लोग यह नहीं कहेंगे कि मैंनें लड़ाई जीती है, वे तो यही कहेंगे कि सेना भी तो साथ थी। अहंकारी श्रेय में किसी दूसरे को भागीदार नहीं बनाना चाहता। यह उसका बाहरी तात्पर्य है। और आन्तरिक तात्पर्य यह है कि जीवन की सारी साधनाओं को मिटाने के लिए एक

अहंकार ही काफी है। ऐसा कुम्भकर्ण जब युद्धभूमि में आया, तो बन्दर उसकी देह की विशालता को देख आश्चर्य में पड़ गये और सोचने लगे कि यह कौन आ गया? प्रभु भी अनजान-से होकर विभीषण से पूछते हैं कि यह कौन है? प्रभु तो सर्वज्ञ ईश्वर हैं और विभीषण अल्पज्ञ जीव। पर आज सर्वज्ञ ईश्वर अल्पज्ञ जीव से पूछ रहा है कि यह कौन है! यही जीवन का सत्य है। ईश्वर तो सब कुछ जानता है, फिर भी वह जीव से क्यों पूछता है? इसलिए कि वह जीव से सुनना चाहता है। ईश्वर मेरे हृदय की बात को जानता तो है, पर वह मुझसे सुनना चाहता है कि मैं क्या चाहता हूँ। प्रभु भी मानो विभीषण से कहते हैं—तुम तो इसके पास बहुत रहे हो, तुम्हें इसका जितना परिचय है, उतना भला और किसे है? तो बताओ, यह कौन है? इस पर विभीषण तुरन्त कहते हैं—

नाथ भूधराकार सरीरा।
कुंभकरन आवत रनधीरा॥६।६४/२

—महाराज, यह पर्वत का-सा शरीरवाला कुम्भ-कर्ण है। गोस्वामीजी ने अहंकार की तुलना पर्वत से की है। और यह तुलना कितनी सार्थक है! यदि कोई व्यक्ति पर्वत के ऊपर खड़ा हो जाय, तो वह कितना ऊपर दिखायी देगा। पर उसकी वह ऊँचाई अपनी है अथवा उस पर्वत की है, जिस पर वह खड़ा है? अब मैं यहीं लीजिए। यह जो मैं इतना ऊँचा दिखायी दे रहा

हूँ । वह मेरी ऊँचाई है अथवा इस चौकी की, जिस पर मैं बैठा हूँ ? यह तो वस्तुतः काठ की चौकी की ऊँचाई है । इसी प्रकार अहंकारी व्यक्ति भी किसी न किसी पर्वत का सहारा लेकर अपने को ऊँचा दिखाना चाहता है । गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं—

परम बर्बर खर्ब गर्ब-पर्बत चढ़ायो,
अग्य सर्बग्य, जन-मनि जनायौं । २०८/३

—'हूँ तो बड़ा ही असभ्य और नीच, परन्तु घमण्डरूपी पहाड़ पर चढ़ा बैठा हूँ । इसी से तो मूर्ख होने पर भी अपने को सर्वज्ञ और भक्तश्रेष्ठ बतलाता हूँ ।' तो, कुम्भकर्ण अहंकार के पर्वत पर खड़ा हो अपनी ऊँचाई बढ़ा रहा है । हनुमान्‌जी के जीवन में ठीक इसका उलटा है । जब वे लंका की ओर जाने लगे, तो गोस्वामीजी लिखते हैं—

जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता ।
चलेउ सो गा पाताल तुरंता ॥ ५/०/७

—हनुमान्‌जी जिस पर्वत पर पैर देते हैं, वही पाताल में पैठ जाता है । वे गर्व के विजेता के रूप में लंका में जाते हैं । वे गर्व के पर्वत पर खड़े हो गर्व के पर्वत से अपने को ऊँचा नहीं बनाते, अपितु गर्व के पर्वत को नीचे की ओर ढकेल देते हैं । यह हनुमान्‌जी की साधना का तत्त्व है ।

तो, जब विभीषण ने भगवान् श्री राम को कुम्भकर्ण का परिचय दिया, तो प्रभु उनसे पूछना चाहते थे कि इन महोदय की लड़ने की कला क्या है, पर कुम्भकर्ण का नाम सुनते ही बन्दर इतने उत्साहित हो गये कि उसके

लड़ने की कला बिना जाने ही बिना प्रभु से पूछे ही उस पर टूट पड़े—

एतना कपिन्ह सुना जब काना ।
किलकिलाइ धाए बलवाना ॥ ६/६४/३

—कई साधक ऐसे होते हैं, जो इन वानरों के समान ही बड़ा जल्दी जोश में आ जाते हैं। ये वानर कौन हैं ? गोस्वामीजी 'विनय पत्रिका' में कहते हैं—

कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट । ५८/८

—ये सारे रीछ-बन्दर मोक्ष के साधन हैं । संकेत यह कि साधन अहंकार पर टूट पड़े, पर उससे अहंकार का कुछ बिगड़ा ? गोस्वामीजी लिखते हैं कि बन्दरों द्वारा फेंके गये वृक्षों और पर्वतों की मार खाकर कुम्भकर्ण को ऐसा लगा —'**जिमि गज अर्क फलनि को मारयो**' (६/६४/६)—मानो हाथी को मदार के फलों से मारा जा रहा हो । हाथी को यदि कोई आक के फल से मारे, तो क्या असर होने वाला है; हाँ, उसके शरीर की खुजली कुछ मिटेगी । इसी प्रकार साधक यदि साधन के बल पर, पुण्य के बल पर अहंकार को जीतने की चेष्टा करे, तो वह विफल मनोरथ ही होगा, क्योंकि आखिर पुण्य भी तो वह अहंकार के ही बल पर करेगा अतः भले ही आप अन्य दुर्गुणों को पुण्य से हरा दीजिए, पर यह निश्चित है कि अहंकार को पुण्य से नहीं हराया जा सकता । इसीलिए संकेत मिलता है कि जब वानरभालू कुम्भकर्ण पर टूट पड़े, तो वह उन्हें उठा-उठाकर खाने लगा । मतलब यह कि जब अहंकार जागा, तो वह

साधनों का भक्षण करने लगा । साधन समाप्त होने लगे बेचारे कुछ साधन किसी तरह उसके मुँह, कान और नाक के रास्ते अपने प्राण बचाकर निकल आये । अहं-कार के कारण वानर-भालुओं की सारी सेना में त्राहि त्राहि मच गयी । भगवान् राम की सेना में एक भी बन्दर ऐसा नहीं था, जो कुम्भकर्ण से न हारा हो । यह कितने पते की बात है ! बड़े बड़े साधक, बड़े बड़े पुण्यात्मा अन्य दुर्गुणों को तो हरा देते हैं, पर अहं ऐसा है, जिसे वे हरा नहीं पाते । तो, यहाँ अहंकार ने सारे बन्दरों को तो हरा ही दिया, साथ ही उनके राजा सुग्रीव को भी हरा दिया । ये सुग्रीव कौन हैं ? 'विनय-पत्रिका' के अनुसार, वे ज्ञान हैं— **'ग्यान-सुग्रीवकृत जलधि सेतु'** (५८/८) तो, अहंकार ने साधनों के स्वामी ज्ञान को भी हरा दिया ! वैसे ज्ञान को हारना तो नहीं चाहिए था, क्योंकि उसमें वस्तुतः अभिमान आदि कोई भी दोष नहीं होता— **'ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं'** (३ १४ ७) । पर जब उसमें अभिमान आ जाता है, तब अहंकार के हाथों उसेपराजित होना ही पड़ता है । आज कुम्भकर्ण ने सबको हराकर ऐसा कुछ कर दिखाया, जो रावण की सेना में और कोई भी नहीं कर सका था । वह सुग्रीव को मूर्छित करके अपनी बगल में दबाकर चल पड़ा—

> **अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव ।**
> **काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बल सींव ॥** ६ ६५

ज्ञान अहंकार की काँख में दबा पड़ा है ! अच्छे

व्यक्ति भी अहंकार के सामने हार जाते हैं। ज्ञान में भी अभिमान आ जाता है। पर इसका अभिप्राय यह थोड़े ही है कि ज्ञान बिलकुल व्यर्थ है। ज्ञान की अपनी विशेषता है; उसे जब होश आता है, तब देखता है कि वह तो अहंकार की बगल में दबा पड़ा है—

'सुग्रीवहु कै मुरुछा बीती' (६/६५/५)

तब उसे बड़ी ग्लानि होती है। वह सोचता है कि मैं अकेले अपने बूते तो इसे हरा नहीं सकता। और अगर मैं चुप पड़ा रहा, तो यह मुझे रावण के पास ले जायगा। अतः उससे बचने के लिए सुग्रीव एक उपाय करते हैं। अपने को मुर्दे के समान बना लेते हैं। अभिमान-अहंकार को जीतने का उपाय यह शव-वृत्ति ही है। यदि आप किसी व्यक्ति के सामने उसकी स्तुति कर दें, तो वह फूल जायगा और निन्दा कर दें, तो क्रोधित हो जायगा। पर शव को आप कितनी भी माला पहनाएँ, या उसे गाली दें अथवा पत्थर पर पटक दें, न वह फूलेगा, न गुस्सा होगा। तो, अहंकार को पराजित करने का सार्थक उपाय है शव-वृत्ति धारण करना। सुग्रीव ने यही किया। कुम्भकर्ण ने देखा—अरे, यह तो मर गया है, यदि इसे ले जाऊँ तो लोग कहेंगे कि मुर्दा ढोकर ला रहा है। मैं इतना बड़ा शूरमा, और मुर्दा ढोने वाला कहाऊँ! कुम्भकर्ण को यह गवारा न हुआ और उसने मुर्दे को बगल से गिरा देने के लिए अपनी भुजा ढीली की। इतने में सुग्रीव ने बड़ी फुर्ती से उछलकर

दाँतों से कुम्भकर्ण के कान और नाक काट लिये और भगवान् श्री राम की ओर भाग चले। गोस्वामीजी लिखते हैं—

> सुग्रीवहु कै मुरुछा बीती।
> निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती॥
> काटेसि दसन नासिका काना।
> गरजि अकास चलेउ तेहिं जाना॥ ६/६५/५-६

इसका आशय यह है साधक भले ही अन्य दुर्गुणों को अपने पुण्य के बल पर जीत ले, पर अहंकार को तो वह केवल ईश्वर की कृपा से ही जीत सकता है। सुग्रीव इस तथ्य को जानते थे। इसलिए उन्होंने सोचा—भले ही हम कुम्भकर्ण को मार नहीं सकते, पर कम से कम उसे चोट तो पहुँचा सकते हैं। और उन्होंने कुम्भकर्ण की दुर्बलता पर प्रहार किया। अहंकार की दुर्बलता है उसकी नाक, उसके कान। उसकी आसक्ति उन्हीं दो अंगों पर विशेष होती है। नाक-कान के कट जाने से कुम्भकर्ण को ग्लानि हो आयी। वह पुनः युद्धभूमि में लौट पड़ा। उसे लगा कि ऐसा रूप लेकर यदि मैं नगर में जाऊँगा, तो लोग भले ही सामने न हँसे, पर पीठ पीछे तो अवश्य मुँह दबाकर हँसेंगे। अतः उसने निश्चय किया कि या तो हम सबको हरा देंगे या स्वयं मर जाएँगे। अहंकार फिर युद्धभूमि पर आ गया। बन्दर पुनः उससे लड़ने-भिड़ने लगे और उससे मार खाकर भगवान् को पुकारकर कहने लगे—

यह निसिचर दुकाल सम अहई ।
कपिकुल देस परन अब चहई ॥ ६/६९/३

—यह राक्षस दुर्भिक्ष के समान है, जो अब वानरकुल-रूपी देश में पड़ना चाहता है। यही जीवन का सत्य है। सत्कर्म बार बार अहंकार से भिड़ते हैं, पर हर बार अहंकार जीतता है। तब अन्त में वानरों को प्रभु की कृपा की याद आती है। वे कह उठते हैं—

कृपा बारिधर राम खरारी ।
पाहि पाहि प्रनतारति हारी ॥ ६/६९/४

—अब तो महाराज, बहुत गर्मी पड़ चुकी। अब वर्षा होनी चाहिए। यह अहंकार तो समस्त साधना ही नष्ट किये डाल रहा है। अब आप कृपाजल की वर्षा कीजिए। वानरों की दीन पुकार सुनकर—

राम सेन निज पाछें घाली ।
चले सकोप महा बलसाली ॥ ६/६९/६

—भगवान् राम सेना को पीछे कर लेते हैं और स्वयं आगे चलते हैं। मानो ईश्वर आगे हो गया, और साधन पीछे। यही अहंकार को जीतने का उपाय है। साधन यदि आगे रहें, तो अहंकार ही बढ़ेगा।

एक सज्जन ने कहा—मैं पुण्य इसलिए नहीं करता हूँ कि उससे अहंकार होता है। यह तो बढ़िया तर्क रहा। तो क्या इसका यह अर्थ लिया जाय कि पाप किया जाय, क्योंकि पाप से भीरुता आती है, भय उत्पन्न होता है? किसी बालक के पिता ने उसे सुबह प्रार्थना करने के लिए उठाया। वह जब प्रार्थना करने के लिए बैठा, तो उसने

अपने चारों ओर लोगों को सोते हुए देखा। वह अपने पिता से बोला—पिताजी, ये लोग कितने बुरे हैं, जो सो रहे हैं, प्रार्थना नहीं कर रहे हैं! पिता ने कहा—प्रातः-काल उठकर यदि तुम्हें लोगों का दोष ही देखना था, तो इससे अच्छा था कि तुम सोते ही रह जाते। दूसरे दिन पुत्र सोता रह गया। पिता ने कहा—यह क्या? पुत्र बोला आपने ही तो कहा था कि सोता रह जाता तो अच्छा था! अब, पिता के कहने का यह तो अर्थ नहीं था कि लड़का सोता रह जाता और प्रार्थना छोड़ देता, सही अर्थ यह था कि दूसरों का दोष देखना छोड़ो। अतएव, यदि सत्कर्म से व्यक्ति में अहंकार आता है और दुष्कर्म से हीनता, तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम सत्कर्म करना छोड़कर दुष्कर्म करने लगें। अपितु हमें ऐसा प्रयास करना चाहिए कि हम सत्कर्म तो करें, पर अहंकार न आए। इसके लिए हमें भगवान् को आगे रखना होगा और सत्कर्म उनके पीछे चलेंगे। तभी अहंकाररूप कुम्भकर्ण का वध होगा।

जब भगवान् राम कुम्भकर्ण का वध कर देते हैं, तो चारों ओर जयध्वनि होने लगती है। अहंकार का विनाश हो जाता है। इस अवसर पर लक्ष्मणजी जीव की, साधक की आलोचना करते हुए कहते हैं—प्रभु, ये बन्दर बड़े कायर हैं। उत्साह तो इतना दिखाया कि आपकी अनुमति लिये बिना ही वे कुम्भकर्ण पर टूट पड़े थे। पर जब कुम्भकर्ण ने अच्छी पिटाई की, तो कायर के समान भाग

भी चले ! प्रभु तो करुणामय हैं, वे जीव के सत्कर्मों को महत्त्व देते हैं, भले वह सत्कर्म करके हार भी जाता है। अतः वे वानरों का पक्ष लेते हैं और लक्ष्मणजी से कहते हैं—लक्ष्मण, तुम ऐसा क्यों कहते हो? "क्यों न कहूँ, प्रभु !" लक्ष्मणजी बोले, "पहले तो इन वानरों ने जोश-खरोश के साथ कुम्भकर्ण पर आक्रमण किया, फिर बाद में भाग भी गये। इन्होंने निन्दा का ही काम किया है।" प्रभु ने समझाते हुए कहा—"तुम समझे नहीं, लक्ष्मण! इनमें बुराई के विरुद्ध लड़ने का कितना उत्साह है ! तभी तो वे कुम्भकर्ण को देखते ही उस पर टूट पड़े। और जो तुम इनके भागने की बात कहते हो, सो वे भागे नहीं, बल्कि मुझे आगे करके कुम्भकर्ण को मारने का श्रेय मुझे दे दिया। ऐसा लगता है, कुम्भकर्ण नयी शक्ति लेकर आया था। इन लोगों ने लड़कर उसे थका दिया। उसे मार तो ये भी सकते थे, पर मुझे श्रेय देने के लिए ये पीछे हट गये और मुझे आगे कर दिया !" कैसी पते की बात है ! यदि प्रभु सोचते कि मैंने कुम्भकर्ण को मारा है, तो 'मैं' तो आखिर बच ही जाता। इसलिए वे बधाई दिये जाने पर कहते हैं—दिखायी तो दे रहा है कि मैंने कुम्भकर्ण को मारा, पर उसे थकाकर कमजोर तो वास्तव में बन्दरों ने ही बनाया था। उधर बन्दर कहते हैं—नहीं, प्रभु, हम तो कुम्भकर्ण को नहीं मार पाये, उसका वध तो आपके ही द्वारा सम्पन्न हुआ है।

तो, इसे यों देख लीजिए कि जब तक बन्दर

आगे है और प्रभु पीछे, यानी जब तक साधन आगे हैं और ईश्वर पीछे, तब तक अहंकार ही जीतता है। किन्तु जब ईश्वर आगे हो जाते हैं और साधन पीछे चलते हैं, तब अहंकार हार जाता है, मारा जाता है। यह साधना और कृपा का समन्वय-तत्त्व है, जो 'रामचरितमानस' में बार बार आता है। प्रसंग आता है, समुद्र पर सेतु बन गया। जाम्बवान् ने आकर प्रभु से कहा—प्रभो, पुल तो बन गया, पर सँकरा है और सेना बड़ी है। प्रभु ने हँसकर कहा—ठीक है, एक पुल और सही। और वे वानर-रीछों द्वारा बनाये गये पत्थर के पुल पर जाकर खड़े हो गये। इससे समुद्र के जितने जलचर थे, वे प्रभु को देखने के लिए प्रकट हो गये—

> देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा।
> प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥
> तिन्ह की ओट न देखिअ बारी।
> मगन भए हरि रूप निहारी॥ ६/३/४,८

जिधर देखो उधर जलचर ही जलचर दिखायी देते हैं। जलचरों से समुद्र पट जाता है और एक नया पुल तैयार हो जाता है। सारी सेना समुद्र के पार उतर आती है—

> सेतुबंध भइ भीर अति कपि नभ पंथ उड़ाहिं।
> अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं॥६/४

जाम्बवान्‌जी से नहीं रहा गया। वे प्रभु से बोल उठे—जब आप पुल बना ही सकते थे, तो बन्दरों से इतना परिश्रम कराने की क्या आवश्यकता थी ? प्रभु बोले—जाम्बवान्,

और तुम लोगों ने पत्थर का यह पुल न बनाया होता, तो मैं कहाँ पर खड़ा रहकर अपना यह पुल बनाता ? इसका आधार तो तुम लोगों ने ही प्रदान किया ! हम सामान्यत: सोचते हैं कि जब ईश्वर ही सब कुछ करने में समर्थ हैं, तो हम क्यों करें ? ईश्वर हमसे कहते हैं—ठीक है, मैं करूँगा, पर तुम आधार तो प्रदान करो। तुम अपने संकल्प और अपनी क्रिया का आधार मुझे बनाकर दो, जिस पर खड़े हो मैं अपनी कृपाशक्ति का प्रयोग करूँगा।

अब यह तो ठीक है कि अहंकार का जब पूरी तरह विनाश होता है, तभी साधक के जीवन में सर्वोच्च स्थिति आती है, पर जब तक अहंकार उसके जीवन में बना रहता है, तब तक समझौते का क्रम चलता रहता है, उसके मन्दिर में भगवान् भी रहते हैं और कुम्भकर्ण भी। इसीलिए गोस्वामीजी लंका में जहाँ विभीषण के हरि-मन्दिर का उल्लेख करते हैं, वहाँ यह भी कहते हैं कि रावण और कुम्भकर्ण भी मन्दिर में ही रहते हैं। यह गोस्वामीजी का विभीषण की समझौतावादी नीति पर कटाक्ष है। वे लिखते हैं कि जब हनुमान्‌जी लंका में प्रविष्ट हुए तो—

> **मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा।**
> **देखे जहं तहं अगनित जोधा॥** ५/४/१

—उन्होंने एक एक मन्दिर की खोज की। जहाँ-तहाँ असंख्य योद्धा देखे। और फिर वे—

> **गयउ दसानन मंदिर माहीं।** ५/४/६

—रावण के मन्दिर में गये। अर्थात्, लंका में रावण भी मन्दिर में रहता है! यह गोस्वामीजी का व्यंग्य है। वे विभीषण के भगवान् के वासस्थान को भी मन्दिर ही कहते हैं—

भवन एक पुनि दीख सुहावा।
हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा॥ ५/४/८

संस्कृत साहित्य में मन्दिर शब्द का उपयोग भवन के अर्थ में होता है, पर भाषा में देवताओं के स्थान के रूप में उसका अर्थ रूढ़ है। गोस्वामीजी का व्यंग्य यह है कि विभीषण एक ओर जहाँ अपने भगवान् को साथ रखते हैं, वहीं दूसरी ओर रावण और कुम्भकर्ण को भी साथ रखते हैं। अर्थात्, जैसे उनके लिए भगवान् पूज्य हैं, वैसे ही मोह और अहंकार भी पूज्य हैं। वे तीनों के मन्दिर में पूजा करते हैं। ऐसा व्यक्ति यदि यह आशा करे कि हम साधना में सही दिशा में चल रहे हैं, तो वह भ्रम है। जब तक रावण और कुम्भकर्ण के मन्दिर जलकर नष्ट नहीं हो जाते, जब तक मोह और अहंकार के आवासस्थानों को नष्ट कर मोह और अहंकार को ही पूरी तरह से विनष्ट नहीं कर लिया जाता, तब तक हरिमन्दिर की समग्र सार्थकता नहीं है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि हरिमन्दिर में पूजा करना बन्द कर दिया जाय। इसका तात्पर्य यही है कि साधक अपनी साधना जारी रखे और सन्तोष न करे तथा घबराकर मोह एवं अहंकार के साथ समझौता न कर बैठे, जैसा कि विभीषणजी ने कर लिया था।

०

श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में मेरे संस्मरण

भवतारिणी

[श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में यह निम्नोक्त संस्मरण उनके शिष्य-शिष्याओं में सबसे अन्त में देहत्याग करनेवाली उनकी एक शिष्या का है। इस संस्मरण की हृदयस्पर्शी सरलता, एक अति असाधारण अनुभूति की अभिव्यंजना के साथ युक्त हो, उस अपेक्षाकृत छोटे से साहित्य-भण्डार की अभिवृद्धि में एक अपूर्व योगदान देती है, जो श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में उनके गृही शिष्यों की रचनाओं से निर्मित हुआ है।

लेखिका तब मात्र आठ वर्ष की बालिका थी, जब पहली बार उसकी श्रीरामकृष्ण से भेंट हुई थी, परन्तु इसने और इसके बाद की भेंटों ने उसका समस्त जीवन परिवर्तित कर दिया। भवतारिणी की माँ श्रीरामकृष्ण की रिश्तेदार थीं, और श्रीरामकृष्ण ने ही भवतारिणी का ब्याह अपने एक गृही-भक्त और सम्बन्धी उपेन्द्रनाथ मुखर्जी से तय करवाया था। ये उपेन्द्रनाथ मुखर्जी वही थे, जिनके छापेखाने में लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्दजी) महीनों रहे थे।

उपेन्द्रनाथ बहुत निर्धन थे, पर उन्हें आशा थी कि श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से वे धन अर्जित कर लेंगे। और, सचमुच, बाद में उन्होंने किया भी। वे कलकत्ता के धनी प्रकाशकों में से एक बन गये। उपेन्द्रनाथ की सन् १९१५ में मृत्यु हुई थी।

यह संस्मरण बंगलोर के रामकृष्ण आश्रम में २६ जुलाई १९५५ को सन्ध्यारती के ठीक बाद लिपिबद्ध किया गया था। इसका बँगला से अँगरेजी अनुवाद बंगलोर के तत्कालीन अध्यक्ष (बाद में रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष) स्वामी यतीश्वरानन्दजी ने किया था। यह 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' के १९६८ के सितम्बर-

अक्तूबर वाले अंक में छपा था, जहाँ से यह साभार गृहीत एवं अनूदित हुआ है।

१९६८ में अंगरेजी लेख के छपने के समय भवतारिणी ९४ वर्ष की थीं, पर नीरोग और स्वस्थ थीं तथा बनारस में अपने अन्तिम दिन बिता रही थीं। अपने पति की १९१५ में मृत्यु होने के उपरान्त, वे संन्यासिनी का-सा जीवन जी रही थीं। उस लम्बी उम्र में भी वे कठोर तपस्यामय जीवन-यापन करतीं। उनका एकमात्र आहार कुछ दूध तथा केला था, जो वे रात्रि में श्रीरामकृष्णदेव को पहले अर्पित कर फिर प्रसाद पातीं। उनके पुत्र और एक नाती को गुजरे भी दस वर्ष से अधिक हो गये थे। अभी कुछ समय पूर्व ही भवतारिणी भी इहलोक छोड़कर श्रीरामकृष्ण-लोकवासिनी हो गयी हैं।—सं०]

जब मैं आठ साल की थी, एक दिन ठाकुर (श्रीराम-कृष्णदेव) हमारे घर भोजन के लिए पधारे। मैं पास कहीं खेल रही थी, खूब नटखट थी। मेरी माँ ने नौकरानी भेज मुझे बुलवाया। ठाकुर ने मेरा नाम पूछा। माँ ने बतलाया, "हूबी।" (अर्थात् वह बच्चा जो देर से बोलना आरम्भ करता है।) ठाकुर चाहते थे कि नाम को बदल दिया जाय। उस समय लड़कियों का नाम फूलों पर रखने का प्रचलन था, पर ठाकुर ने दक्षिणेश्वर की जगन्माता के नाम पर मेरा भवतारिणी नाम रखा।

उसके बाद एक बार और जब मैं आठ वर्ष की ही थी, ठाकुर हमारे यहाँ भोजन के लिए पधारे। उस समय उन्होंने मेरी माँ से मेरी उम्र पूछी। माँ ने बतलाया, "आठ साल।" ठाकुर ने तब कहा, "तुम्हारी लड़की

आठ साल की हो गयी! तब तो उसकी शादी (अर्थात् सगाई) हो जानी चाहिए। मेरी नजर में उसके लिए एक सुयोग्य वर है।" माँ राजी हो गयीं और लड़के के बारे में पूछा। ठाकुर बोले, "ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं है।" इस पर माँ ने कहा, "तब तो ठीक नहीं है।" तब ठाकुर ने जोर देकर कहा, "भविष्य में उसका भाग्योदय होगा, क्योंकि यह (भवतारिणी) लक्ष्मी है।"

एक दिन उपेन्द्रनाथ की माँ ठाकुर के दर्शन के लिए दक्षिणेश्वर गयीं। ठाकुर ने उनसे कहा, "तुम्हारे बेटे की इस लड़की के साथ शादी होनी चाहिए।" वे राजी हो गयीं। नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) उस समय वहीं थे। उन्होंने पूछा, "किसकी शादी होनेवाली है?" ठाकुर ने उन्हें जानकारी दी। तब नरेन्द्र ने इस विवाह के विरुद्ध अपना अभिप्राय दिया, क्योंकि मैं सुन्दर न थी तथा बहुत साँवली थी। ठाकुर से उन्होंने उपेन्द्रनाथ के लिए कोई दूसरी लड़की ढूँढ़ने के लिए कहा। पर ठाकुर ने जोर देकर कहा कि मैं एक भाग्यवान् लड़की हूँ और उपेन्द्रनाथ को मुझे जरूर स्वीकार कर लेना चाहिए, जिससे वह बाद में धनवान् बन सकेगा। उपेन्द्र की माँ राजी हो गयीं। वे और उनके पति इस बात से प्रसन्न थे कि उनका बेटा दक्षिणेश्वर से, जहाँ वह ठाकुर के साथ रह रहा था, अपने घर लौट जाएगा तथा साथ में पुत्रवधू भी मिलेगी।

विवाह के पश्चात् नरेन्द्र हमारे यहाँ आया करते

थे। जब विवाह तय हो गया, उसी बीच मुझे मालूम पड़ा कि मेरे साँवले रंग आदि के बारे में नरेन्द्र ने क्या कहा था, इसलिए मैं उनसे बहुत नाराज थी। जब हमारे घर आते, तो मैं उनका आतिथ्य-सत्कार न करती तथा जलपान की चीजें उनके पास नहीं ले जाती। मेरी माँ ने उनको बतलाया कि उन्होंने मेरे रंग को लेकर जो आपत्ति की थी उससे मैं नाराज हूँ। तब नरेन्द्र मेरे प्रति बहुत अच्छे हो गये और मुझे सान्त्वना दी।

जब मैं पितृगृह में थी, तब मेरी माँ ने मुझसे कहा कि मैं घर के भीतर ही रहूँ और अच्छा अच्छा खाऊँ, जिससे मेरा रंग निखर उठे। पर जब मेरी छोटी छोटी सहेलियाँ आतीं और मुझे बुलातीं, तब उनके साथ खेलने के लिए दोपहर में, जब सब भोजनोपरान्त विश्राम करते होते, बाहर भाग जाती और उन लोगों के उठने से पूर्व लौट आती। पर एक दिन मुझे लौटने में देर हो गयी, सब लोग उठ गये थे। क्या करूँ? तब मैंने देखा ठाकुर आये हुए हैं और बैठकखाने में बैठे हुए हैं। मैंने मन ही मन सोचा--यदि मैं इनके पास जाकर बैठ जाऊँ, तो माँ को पता भी नहीं लगेगा और वे सोचेंगी कि मैं उन्हीं के पास बैठी थी। ठाकुर ने मुझे दाँतों से नाखून काटते हुए देखा, उन्होंने मुझे ऐसा करने से मना किया। फिर मुझसे पूछा, "मेरे बारे में तू क्या सोचती है? कुछ लोग कहते हैं कि मैं भगवान् स्वयं हूँ। उसके बारे में मेरा क्या विचार है?"

मैंने उत्तर दिया, "नहीं, नहीं, नहीं, तुम भगवान् नहीं हो, तुम मेरे पति के गुरु हो।" तब एकदम सहसा मुझे मधुर सुगन्ध मिली। वह देवी-देवताओं की पूजा में लगनेवाले अगरु की-सी सुगन्ध थी। मैंने सोचा, जैसा कि कई लोग कहते हैं कि ठाकुर साक्षात् ईश्वर हैं, तो कहीं उन्हीं से तो यह नहीं आ रही है। मैंने उसे खोज निकालने की कोशिश की और उनके कानों की तरफ देखा। जब मैं उनके बहुत करीब थी, तब सहसा ठाकुर के बाह्य रूप का लोप हो गया और उसकी जगह दिव्य प्रकाश आलोकित हो उठा, जिसकी छटा सूर्योदय के समय के सूर्य के समान थी और उनका आकार उस प्रकाश-पुंज से बना दिखायी दे रहा था। मैं बोल उठी, "ठाकुर, ठाकुर, ऐसा तुम क्यों कर रहे हो?" उनका बाह्य रूप लगभग लुप्त हो गया था। मैंने उनकी देह को छूकर देखना चाहा, पर नहीं छू सकी। मैंने उन्हें बार बार पुकारा, पर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया; इसलिए मैं बैठकर उनकी तरफ आतुरता से देखने लगी। मैं नहीं जानती ऐसा कब तक रहा। फिर कुछ समय पश्चात् प्रकाश मद्धिम होता गया और मैं ठाकुर को पुनः ठीक से देख सकी। मैंने दूसरों को बुलाने की कोशिश की, पर लगा किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया।

अपनी ससुराल में जब मैंने अपनी सास को यह सारी घटना बतलायी, तो उन्होंने मेरी बात समझ ली, उन्होंने उस पर विश्वास किया और मेरे पति भी बहुत खुश हुए।

मेरी सास ने मुझसे कहा, "अब जब अगली बार तुम ठाकुर से भेंट करो, तो उनसे मन्त्र देने के लिए कहना।" उस समय मैं मन्त्र क्या होता है यह नहीं समझती थी। मैं सोचती थी कि कंगन आदि गहने-जैसी वह भी कोई उपहारवाली चीज होगी।

जब ठाकुर एक दिन फिर हमारे घर आये, तो मैंने उनसे कहा, "मेरी सास ने मुझसे कहा है कि तुम्हें मैं मन्त्र देने के लिए कहूँ।" मैं उनके पास बैठ गयी और "मुझे मन्त्र दो "मुझे मन्त्र दो" कहने लगी। आप स्मरण रखें कि उस समय मे मात्र आठ साल की बच्ची ही थी। जब मैंने जोर दिया, तो ठाकुर ने मुझसे कहा, "ठीक है, तुझे मैं एक दूँगा। तूने शिवजी को देखा है?"

मैंने कहा, "हाँ।"

उन्होंने कहा, "यदि वे तुझे अच्छे लगें, तो उनसे प्रेम कर।" फिर पूछा, "तूने काली को देखा है?"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ"।

उन्होंने कहा "तुझे यदि वे अच्छी लगें, तो उनसे प्रेम कर।" फिर कहा, "क्या तूने कृष्ण को देखा है? ... राम? ... राम को कहाँ देखा है?"

"अपनी माँ के यहाँ।" मैंने उत्तर दिया।

उन्होंने कहा, "यदि वे तुझे अच्छे लगते हों, तो उनसे प्रेम कर।" फिर कहा, "यदि तू मुझे चाहती है, तब मुझसे प्रेम कर।"

"हाँ, मैं तुमसे प्रेम करती हूं," मैंने उत्तर दिया।

"मैं तुमको बहुत चाहती हूँ, परन्तु यदि तुमने मन्त्र नहीं दिया, तो मैं अपनी ससुराल नहीं लौटूँगी।" तब ठाकुर ने कहा, "अच्छा, ठीक है, तू अपनी सास के पास जाकर पूछ आ कि तुझे कौन सा मन्त्र दूँ। यदि मेरे पास होगा, तो मैं उसे दे दूँगा; नहीं तो मैं तुझे पैसे दे दूँगा, तू उससे वह खरीद लेना। देख, अभी मेरे पास कुछ नहीं है।" मैंने देखा कि उनकी जेब खाली थी। तब मुझे समझ में आया कि ठाकुर के पास अभी कुछ नहीं है। फिर भी मैंने उनसे कहा, "यदि तुम मुझे वह नहीं दोगे तो मैं अपनी ससुराल नहीं लौटूँगी।"

अपनी ससुराल लौटने पर मैंने अपनी सास को जो कुछ हुआ था, वह बतलाया। तब वे बहुत प्रसन्न हुई और कहने लगीं, "वही तो मन्त्र है।"

समय बीतता गया, मैं बड़ी हो गयी। फिर भी मैं ठाकुर से यह पूछने के लिए इच्छुक थी कि उन्हें उस दिन क्या हो गया था, जो मैंने उन्हें प्रकाशमय देखा था। मेरा कुतूहल बढ़ता जा रहा था, पर उनसे पूछने का उपयुक्त समय नहीं मिल पा रहा था। एक दिन मेरे ससुरजी मुझे दक्षिणेश्वर लेकर गये और ठाकुर ने मुझे श्री माँ (सारदा देवी) के पास कुछ दिन के लिए छोड़ जाने को कहा। तब मैंने अपने मन में निश्चय किया कि अब उचित अवसर ढूँढ़कर अपने प्रश्न को पूछूँगी। पर मैं ठाकुर से बात नहीं कर पायी, क्योंकि वे प्रायः सब समय भक्तों से घिरे होते। शाम को वे कालीमन्दिर

जाते और सन्ध्यारती देखते। एक दिन जब वे वहाँ थे, तब मैं उनके कमरे में जाकर बैठ गयी और अपना प्रश्न पूछने के लिए प्रतीक्षा करने लगी। मन्दिर से लौटने के बाद वे मेरे पास आकर बैठ गये। पर इससे पहले कि मैं पूछ पाती, मैंने फिर उनके बाह्य रूप को दिव्य ज्योति में लुप्त होते देखा। मैंने उन्हें बार बार छुआ, पर कुछ नहीं हुआ। उनकी देह बहुत मुलायम थी, मानो उसमें हड्डियाँ न हों। इसके बाद मेरा बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया और मेरा सिर उनकी गोद में गिर पड़ा। जब मुझे होश आया, तब देखा ठाकुर मेरी पीठ पर हाथ फेर रहे हैं। मैं कह उठी, "ठाकुर, तुम कौन हो? क्या तुम भगवान् हो? क्या तुम कृष्ण हो? क्या तुम राम हो? तुम कौन हो, ठाकुर?" तब उन्होंने मुझे पीने के लिए कुछ जल दिया।

०

मन में सदा यह भाव रखना कि घर-द्वार, परिवार इनमें से कुछ भी तुम्हारा नहीं है, सब भगवान् के हैं, तुम भगवान् के दास हो, उन्हीं की आज्ञा का पालन करने संसार में आये हो। यह भाव दृढ़ हो जाने पर वास्तव में किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व-बुद्धि नहीं रह जाती।

—श्रीरामकृष्ण

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) यद् भाव्यं तद् भविष्यति

एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी मन्दिर की ओर जा रहे थे कि मार्ग में एक ब्राह्मण स्त्री मिली। तुलसीदासजी को देख उसने प्रणाम किया। तब उन्होंने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा, "सौभाग्यवती भव!" इस पर स्त्री की आँखों में आँसू आ गये और वह दुःखित अन्तःकरण से बोली, "महाराज! आपने यह क्या आशीर्वाद दे दिया? मेरे पति का आज ही निधन हुआ है और मैं सती हो जानेवाली हूँ।" तुलसीदासजी ने सुना, तो उन्हें बेहद दुःख हुआ कि उन्होंने अनजाने में एक विधवा को सधवा होने का आशीर्वाद दे दिया है। उन्होंने मन ही मन अपने आराध्य देव से प्रार्थना की कि वे उनके आशीर्वाद को वृथा न जाने दें। करुणामूर्ति प्रभु रामचन्द्रजी ने उनकी प्रार्थना सुन ली। वह स्त्री जब घर गयी तो उसने देखा कि उसके पति को जीवनदान मिल गया है। उसने जान लिया कि यह गोसाईंजी की ही कृपा है। उसे विश्वास हो गया कि सन्त और साधु पुरुषों के वचन कभी असत्य नहीं होते।

(२) या जग की विपरीत गति

घटना टोकियो (जापान) की है। स्वामी रामतीर्थ सड़क से जा रहे थे कि उन्हें दिखायी दिया कि एक इमारत में आग लगी हुई है और लोग उसे बुझाने में व्यस्त हैं। वे भी वहाँ जा पहुँचे। लोग मकान से

फर्नीचर और कीमती सामान बाहर ला-लाकर फेंक रहे थे। उनमें से एक ने थोड़ी देर बाद मकान-मालिक से पूछा, "और कोई कीमती सामान तो अन्दर नहीं रह गया।" मकान-मालिक को, जो करोड़ों की सम्पत्ति को जलता देख पागल-सा हो गया था, अपना बहुत सा कीमती सामान सुरक्षित देख कुछ चेतना आयी और वह विचार करने लगा। अकस्मात् उसे ख्याल आया कि उसका इकलौता बेटा तो अन्दर सो रहा था और वह अन्दर ही रह गया है। उसने रोते हुए, लोगों से लड़के को बाहर निकालने की प्रार्थना की। किन्तु अब तो काफी देर हो चुकी थी और अन्दर का हिस्सा जलकर खाक हो चुका था। आग को बुझाने पर उसकी लाश ही मिली। यह देख मकान-मालिक जोर जोर से विलाप करने लगा।

स्वामीजी से उसका शोक न देखा गया। उन्होंने उसे सान्त्वना दी और वहाँ से लौट गये। फिर एकान्त स्थान में अपनी डायरी खोल उसमें इस घटना का वर्णन कर अन्त में इस प्रकार लिखा--"इस संसार की निराली ही गति है। इस मकान-मालिक के साथ जो घटित हुआ है, वह कुछ नया नहीं है। प्रत्येक के साथ ऐसा होता ही रहता है, लेकिन किसी के ध्यान में नहीं आता। हर व्यक्ति मानो कीमती सामान को बचाने की ही फिक्र में रहता है। जो वस्तु दिखायी देती है, वह तो बच जाती है, लेकिन न दिखायी देनेवाली जो असली या मूल वस्तु

होती है, वह नष्ट हो जाती है और तब मनुष्य को पश्चात्ताप होने लगता है, मगर नुकसान हो जाने के बाद विलाप करने से क्या लाभ? उसका ख्याल तो समय पर ही करना चाहिए।"

(३) सो ब्राह्मण जो ब्रह्म पिछाने

पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के पास एक बार नवद्वीप के एक कट्टर ब्राह्मण आये। उन्होंने विद्यासागर-जी के पास जब बहुत से ब्राह्मणेतर लोगों को देखा, तो उन्होंने नाक-भौं सिकोड़ी। उन्हें इस बात का भी गुस्सा आया कि उनमें से किसी ने भी उनको प्रणाम नहीं किया। उन लोगों को नसीहत देने के उद्देश्य से वे बोले, "आजकल जमाना भी कितना बदल गया है। देखो न, अब्राह्मण लोग भी अब ब्राह्मणों को देखकर प्रणाम नहीं करते। वे इस तथ्य को भुलाने की चेष्टा कर रहे हैं कि ब्राह्मण वर्ण चारों वर्णों में सर्वश्रेष्ठ है। शायद उन्हें यह मालूम नहीं कि ब्राह्मणों ने वेद-पुराणों और शास्त्रों की रचना कर समाज और राष्ट्र का कितना बड़ा कल्याण किया है।"

यह सुनकर विद्यासागरजी को बुरा लगा, किन्तु हंसते हुए उन्होंने कहा, "पण्डितजी, मालूम होता है, आपको अपने ब्राह्मण होने का बड़ा गर्व है, लेकिन आप यह तो जानते ही होंगे कि भगवान् विष्णु ने दशावतार में एक वराह का भी अवतार धारण किया था। तब क्या हमें डोम बस्ती में जितने भी सूअर दिखायी देंगे, उनके

प्रति श्रद्धावनत हो भक्तिभाव से प्रणाम करना चाहिए?" पण्डितजी को काटो तो खून नहीं, वे जान गये कि यहाँ दाल नहीं गलनेवाली है और वे पैर पटकते हुए गुस्से के मारे वहाँ से चल दिये।

(४) यद् रोचते तद् ग्राह्यम्

राष्ट्रसन्त तुकड़ोजी महाराज दोपहर को विश्राम कर रहे थे कि रामचन्द्र नामक एक शिष्य उनके पास गुस्से में आया और शिकायत-भरे शब्दों में उसने कहा, "गुरुदेव! लोग भी बड़े अहमक हो गये हैं। देखिए न, सामने किसी मूरख ने कटिंग-सेलून खोली है, और नाम रखा है उसने—'गुरुदेव सेलून'। आप फौरन उसे बुलवाकर नाम बदलने को कहें, नहीं तो साले की दुकान को आग लगा दूँगा।"

तुकड़ोजी ने सुना तो उन्हें हँसी आ गयी, बोले, "अरे वाह! मुझे तो आज ही मालूम हुआ कि सेलूनवाले की बहिन तुझे ब्याही गयी है और तेरा साला सेलून का मालिक है।" वे आगे बोले, "हनुमानजी ने लंका इसलिए जलायी थी कि पापी रावण ने सीता का अपहरण कर उन्हें लंका में छिपा रखा था। क्या इस सेलूनवाले ने भी किसी सीता को अपने सेलन में छिपा रखा है, जो तू हनुमानजी की तरह उसे जलाने की सोच रहा है? मगर मुझे तो ऐसा नहीं दिखायी देता, क्योंकि वह वहाँ बाल काटने का काम करता है और अपने परिवार के पालन-पोषण का सत्कर्म करता है। इस तरह वह

सेलून तो मन्दिर के समान पवित्र है। तब क्या तू इस मन्दिर को जलाएगा ?"

रामचन्द्र को चुप देख वे आगे बोले, "अरे हाँ, तुझे तो सेलून के नाम पर आपत्ति है! मगर नामकरण तो पिता द्वारा किया जाता है। तेरा नाम 'रामचन्द्र' भी तो तेरे पिता ने कुछ सोचकर ही रखा होगा, मगर क्या इससे प्रभु रामचन्द्रजी को क्रोध आया होगा कि तेरे पिता ने उनका ही नाम क्यों चुना ?"

भावुक शिष्य रामचन्द्र के लिए इतना सुनना ही पर्याप्त था। वह बड़ा लज्जित हुआ और गुरुदेव के चरणों पर गिरकर उनसे क्षमा माँगी। तब उसे उठाते हुए वे बोले, "जा, उस सेलूनवाले से कह कि आज रात्रि को हम लोग उसके सेलून में ही भजन करेंगे।"

o

जैसे रुई के पहाड़ में एक छोटी चिनगारी पड़ जाने पर वह देखते ही देखते जलकर खाक हो जाता है, वैसे ही भक्त के साथ भगवान् का नाम-गान करने पर पर्वत-समान पाप भी नष्ट हो जाता है।

—श्रीरामकृष्ण

ज्ञानी के लिए कर्तव्यता का अभाव

(गीताध्याय ३, श्लोक १७–१९)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१७।।

तु (परन्तु) यः मानवः (जो मनुष्य) आत्मरतिः (आत्मतत्त्व में रमण करनेवाला) च (और) आत्मतृप्तः एव (आत्मा में ही तृप्त) च (तथा) आत्मनि एवं संतुष्टः आत्मा में ही सन्तुष्ट) स्यात् (रहे) तस्य (उसका) कार्यं (करणीय कार्य न नहीं) विद्यते (रहता) ।

"परन्तु जो व्यक्ति आत्मतत्त्व में ही रमण करने वाला है और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसका कोई कर्तव्य नहीं है।"

पिछले श्लोकों में यज्ञ-कर्म की अनिवार्यता बतलायी गयी है। यह भी कहा है कि यह यज्ञ-कर्म ही संसार-चक्र को चला रहा है, इसलिए मानवमात्र को इस यज्ञ-कर्म का अनुवर्तन करना चाहिए। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या, बिना किसी अपवाद के, सभी के लिए यह यज्ञ-कर्म करणीय है? क्या किसी के लिए इसकी कर्तव्यता का अभाव नहीं है? यदि नहीं, तो अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से जो यह कहा था कि इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा बतलायी गयी है—ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और कर्मयोगियों की कर्मयोग से, तो इस वचन की सार्थकता

फिर कैसे होगी ? यह ठीक है कि कर्मयोगी कर्म के प्रति अपनी निष्ठा से प्रेरित हो सतत कर्म करता रहता है, पर ज्ञानयोगी की निष्ठा का क्या होगा ? प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानयोगी की यह निष्ठा ही प्रदर्शित हुई है। 'तु' शब्द के द्वारा निष्ठा के भेद को प्रकट किया गया है। अब तक कर्म-योग की निष्ठा बतलायी गयी, परन्तु अब ज्ञानयोग की निष्ठा बतलाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति के लिए कर्तव्यता का अभाव हो जाता है।

यह सही है कि ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति के लिए किसी भी कर्म की कर्तव्यता नहीं रह जाती, पर हमें समझ लेना चाहिए कि ज्ञाननिष्ठ के लक्षण क्या हैं। कोई भी अपने को ज्ञाननिष्ठ कहकर कर्म का त्याग करना चाहे, तो वह धर्म का पालन नहीं होगा। जब साधक में ज्ञान-निष्ठा आती है, तो अपने आप वह कर्म से विमुख होने लगता है। वैसे देखा जाय तो एक आलसी भी कर्म से विमुख होता है। वह अपने आलस्य पर ज्ञाननिष्ठा का मुलम्मा चढ़ाने की चेष्टा करता है। हम विगत कुछ शताब्दियों से ऐसा ही कुछ करते आ रहे हैं। हमारे यहाँ जिन्होंने संन्यास लिया, उनमें बहुतेरों ने प्रमाद और तमोगुण के वशीभूत हो ऐसा किया, इसलिए संन्या-सियों से जो तेज और प्रेरणा समाज को प्राप्त होनी चाहिए थी, वह न हो सकी। इन संन्यासियों के मत में कर्म करना अज्ञान का द्योतक था, इसलिए उनमें कर्म के प्रति वर्जना का भाव पैदा हुआ। उधर आत्मतत्त्व में

डूबने की क्षमता उनमें थी नहीं। इस दम्भ और अक्षमता के मेल ने समाज में कहर बरपाया। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने जागरण का शंखनाद करते हुए कहा था, "क्या तुम देखते नहीं कि इस सत्त्वगुण की आड़ में देश धीरे धीरे तमोगुण के समुद्र में डूब रहा है ? जहाँ महाजड़बुद्धि पराविद्या के अनुराग के छल से अपनी मूर्खता छिपाना चाहते हैं; जहाँ जन्म भर का आलसी वैराग्य के आवरण को अपनी अकर्मण्यता के ऊपर डालना चाहता है; जहाँ क्रूर कर्मवाले तपस्या आदि का स्वाँग करके निष्ठुरता को भी धर्म का अंग बनाते हैं; जहाँ अपनी कमजोरी के ऊपर किसी की भी दृष्टि नहीं है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य दूसरों के ऊपर दोषारोपण करने को तत्पर है; जहाँ केवल कुछ पुस्तकों को कण्ठस्थ करना ही ज्ञान है, दूसरों के विचारों की टिप्पणी करना ही प्रतिभा है, और इन सबसे बढ़कर, केवल पितृपुरुषों का नाम लेने में ही जिसकी महत्ता रहती है, वह देश दिन-पर-दिन तमोगुण में डूब रहा है यह सिद्ध करने के लिए हमें क्या और कोई प्रमाण चाहिए ?"

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी आँखों से ऐसे अकर्मण्य संन्यासियों को देखा था, जो आलस्य और तमोगुण के आधिक्य के कारण कर्म से रहित थे तथा बुद्धि की जड़ता के कारण ज्ञान के अमृतमयी संस्पर्श से वंचित थे। भगवान् कृष्ण से मानव-मन की यह दुर्बलता भला कैसे छिपी रह सकती है ? इसीलिए उन्होंने प्रस्तुत श्लोक में

ज्ञाननिष्ठ के वे लक्षण बतलाये हैं, जिनके होने पर ही कर्म की कर्तव्यता समाप्त होती है, उससे पूर्व नहीं। जब तक ये लक्षण साधक के जीवन में नहीं आते, तब तक उसे प्रकृति द्वारा प्रवर्तित उक्त यज्ञ-चक्र में भाग लेना ही चाहिए। ये लक्षण हैं--आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट। 'रति' शब्द का अर्थ होता है प्रीति, आसक्ति। मनुष्य को तृप्ति होती है अन्न-रसादि से तथा सन्तोष होता है धनादि बाह्य विषयों के लाभ से। पर ज्ञाननिष्ठ तो आत्मा में ही रमण करता है—'आत्मनि एव रतिः न विषयेषु' (शांकरभाष्य)। उसे आत्मा से ही तृप्ति मिलती है —'आत्मना एव तृप्तो न अन्नरसादिना' (शांकरभाष्य) और वह आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है। आचार्य शंकर इस पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—'संतोषो हि बाह्यार्थलाभे सर्वस्य भवति तमनपेक्ष आत्मन्येव च संतुष्टः सर्वतो वीततृष्णः' —अर्थात्, 'बाह्य विषयों के लाभ से तो सबको सन्तोष होता ही है, पर उनकी अपेक्षा न करके जो आत्मा में ही सन्तुष्ट है अर्थात् सब ओर से तृष्णारहित है।' ऐसे ही आत्मज्ञानी व्यक्ति के लिए कर्म की कर्तव्यता का अभाव माना गया है। शंकराचार्य लिखते हैं--य ईदृश आत्मवित् तस्य कार्यं करणीयं न विद्यते न अस्ति'—जो कोई ऐसा आत्मज्ञानी है, उसके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है।

इससे यह प्रदर्शित हुआ कि ज्ञाननिष्ठा कोई हँसी-खेल नहीं है। केवल मुख से 'सोऽहं' या 'अहं ब्रह्मास्मि'

कहना व्यक्ति की ज्ञाननिष्ठा को प्रकट नहीं करता। एक तोता भी रटा दिया जाने पर 'सोऽहं' 'सोऽहं' कह सकता है, पर जब बिल्ली उस पर झपटती है, तो टें-टें करता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं—मुँह से तबले के बोल निकालना सहज है, पर तबले पर वैसी ध्वनि निकालना कठिन। जब तक हम आत्मा को देह-मन तथा संसार के समस्त पदार्थों से अलग करके उसकी अनुभूति नहीं कर लेते, तब तक उसमें रति, तृप्ति और संतुष्टि का अनुभव नहीं होता। जब तक हममें देह-मन के प्रति ममत्व बना हुआ है, तब तक उसके पोषण और सुख का ध्यान बना रहता है; और ऐसा ध्यान हमारे हृदय में विभिन्न पदार्थों की आवश्यकता का अनुभव पैदा करता है। फलतः हमारी रति अपने से भिन्न व्यक्ति या विषयों में हो सकती है। तृप्ति और सन्तुष्टि के अनुभव के लिए भी हमें बाह्य विषय-भोगों की आवश्यकता प्रतीत होती है। जब तक देह-मन और संसार के व्यक्तियों और पदार्थों के प्रति मिथ्यात्व का भाव तीव्र नहीं होता, तब तक आत्मज्ञान के प्रति निष्ठा पुष्ट नहीं हो पाती। ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति के लिए यह संसार सपने के समान है, या आज की भाषा में कहें, तो सिनेमा के समान है। फिल्म देखते समय वह अत्यन्त सत्य मालूम होती है, हम फिल्म के पात्रों के साथ अपने को भावनात्मक रूप से जोड़ लेते हैं और उनके दुःख-सुख में दुःख-सुख का अनुभव करने लगते हैं। फिल्म की उत्तेजक क्रिया हमें भी उत्तेजित कर देती है और

जब तक फिल्म चलती है, हम भूल जाते हैं कि हम फिल्म देख रहे हैं। ज्ञानी इस जगत् को एक फिल्म के रूप में ही देखता है। जैसे फिल्म के पात्रों के साथ व्यक्ति का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी इस संसार में किसी से अपने सम्बन्ध का अनुभव नहीं करता। उसकी दृष्टि में आत्मा को छोड़ और कुछ नहीं है, जिससे सम्बन्ध स्थापित किया जा सके।

सही ज्ञाननिष्ठा दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन ला देती है। जीवन में ज्ञाननिष्ठा के आने से व्यक्ति सब कुछ आत्मरूप ही देखता है। अपने से भिन्न कुछ न देख पाने के कारण वह रति, तृप्ति और सन्तुष्टि का अनुभव भी अपनी आत्मा में ही करता है। उसे सब कुछ आत्मा का प्रकाश ही दिखायी देता है। दृष्टान्त के द्वारा इसे यों समझें। जैसे सिनेमा में परदे पर विभिन्न पात्र जो अलग अलग हरकतें करते हुए दिखायी देते हैं, वे आखिर रोशनी के ही तो खेल हैं। जो जानकार है, वह देखता है कि फिल्म में दिखनेवाला खेल रोशनी का ही खेल है। विभिन्न रूप भी रोशनी के खेल हैं और विभिन्न क्रियाएँ भी। जो बालकबुद्धि है, वह रूपों, पात्रों और क्रियाओं को सच मानकर उनसे भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तथा उद्वेलित होता रहता है। ठीक इसी प्रकार अज्ञ जन इस जगत् के नाम-रूपों को सत्य मानकर उनके प्रति आसक्त हो जाते हैं और जीवन में

द्वन्द्वों से उद्वेलित होते रहते हैं। किन्तु ज्ञानी नाम-रूप-क्रिया सबको आत्मा का ही प्रकाश, आत्मा का ही खेल देखने के कारण आत्मा के अतिरिक्त अन्य कहीं पर रति तृप्ति या सन्तुष्टि का अनुभव नहीं करता। हम किसी व्यक्ति या पदार्थ से सम्बन्ध तभी बनाते हैं, जब हमारा उससे कोई स्वार्थ सधे। हमारा कुछ करना, न करना भी स्वार्थ पर ही अवलम्बित रहता है। पर यदि स्वार्थ-बुद्धि का ही अभाव हो जाय, तो हमारे लिए फिर कर्म की कर्तव्यता नहीं रह जायगी। यही बात अगले श्लोक में कहते हैं। वहाँ कारण बताते हैं कि ज्ञाननिष्ठ के लिए कर्म की कर्तव्यता क्यों नहीं रह जाती।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

तस्य (उसका) इह (इस संसार में) कृतेन (कर्म करने से) अर्थः (प्रयोजन) न एव (नहीं है) अकृतेन (न करने से) च (भी) कश्चन (कोई भी) [अर्थः] [प्रयोजन] न (नहीं है) अस्य (इसका) सर्वभूतेषु (समस्त भतों में) कश्चित् (कुछ भी) अर्थव्यपाश्रयः (प्रयोजन-सिद्धि के लिए आश्रय करने योग्य, न (नहीं है)।

"उस ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति का इस संसार में न तो कुछ करने से प्रयोजन है और न नहीं करने से ही। इस मनुष्य का समस्त प्राणियों में कोई भी मतलब अटका नहीं है (अर्थात् उसका संसार में किसी से कोई लेना-देना नहीं है)।"

ज्ञानी व्यक्ति के लिए कर्तव्यता के अभाव का कारण स्पष्ट करके बतलाया गया है। कर्म की कर्तव्यता

क्यों होती है ?—इसलिए कि हमारा कहीं कोई मतलब अटका हुआ रहता है। पर यदि हमें ऐसी मनःस्थिति प्राप्त हो जाय कि हमारा किसी भी प्राणी से किसी प्रकार का स्वार्थ-सम्बन्ध न रह जाय, तो हमारे लिए कर्म करने, न करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जिस व्यक्ति के प्रति मेरा ममत्व-बोध है, उसने भोजन किया या नहीं मुझमें यह चिन्ता उसके प्रति रहेगी, पर जिसके प्रति मेरा ममत्व-बोध नहीं है, उसके प्रति मैं उदासीन ही रहूँगा। ममत्व का तात्पर्य रक्त-सम्बन्ध ही नहीं हुआ करता। जैसे कोई बाहर का व्यक्ति, जो मुझसे सर्वथा अपरिचित है, मेरे ही किसी काम से मेरे घर आता है। बस, त्योंही उसके प्रति मेरा ममत्व लग जाता है। मतलब यह कि जहाँ भी स्वार्थ का सम्बन्ध है, वहाँ ममत्व है और ममत्व में कर्तव्यता आ ही जाती है। पर जिस व्यक्ति का स्वार्थ-बोध ही समाप्त हो गया, जो सभी को आत्मवत् देखने के कारण भेद-दृष्टि से रहित हो गया, जिसके लिए अपने-पराये सब बराबर हो गये, उसके लिए कर्म करना या न करना कोई मायने नहीं रखता, उसका संसार में किसी से कोई लेना-देना नहीं रह जाता। आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं—'प्रयोजन निमित्तक्रियासाध्यो व्यपाश्रयो व्यपाश्रयणम्। कश्चिद् भूतविशेषम् आश्रित्य न साध्यः कश्चिद् अर्थः अस्ति येन तदर्था क्रिया अनुष्ठेया स्यात्' —अर्थात्, किसी फल के पाने के लिए किसी प्राणीविशेष का जो सहारा लेकर क्रिया की जाती

है, उसका नाम 'अर्थ-व्यपाश्रय' है, सो इस आत्मज्ञानी को किसी प्राणीविशेष का सहारा लेकर कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करना है, जिससे कि उसे तदर्थक किसी क्रिया का आरम्भ करना पड़े।'

यहाँ पर प्रश्न उठाया गया है कि यदि ज्ञानी कर्म न करे, तो उससे क्या प्रत्यवायरूप अनर्थ की प्राप्ति उसे न होगी ? परम्परा के अनुसार हिन्दुओं के लिए नित्य और नैमित्तिक कर्मों की कर्तव्यता का विधान है। नित्य कर्म हैं पंच यज्ञ आदि और नैमित्तिक कर्म हैं विशेष पर्वों पर विशेष पूजा-अनुष्ठानादि। ऐसा माना गया है कि इन नित्य-नैमित्तिक कर्मों के करने से कोई पुण्य नहीं होता, पर यदि ये न किये जायें तो प्रत्यवाय यानी पाप की उत्पत्ति होती है। इसीलिए शंका की गयी कि यदि ज्ञानी कर्म करना छोड़ दे, तो उसे क्या प्रत्यवाय का भागी नहीं होना पड़ेगा ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि ज्ञानी तो आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट होने के कारण समस्त विधि-निषेधों के परे चला जाता है, फिर उसके लिए प्रत्यावय कहाँ से पैदा होगा ? कहा भी तो है—'निस्त्रैगुण्यो पथि विचरता को विधिः को निषेधः'—जो त्रिगुणों से परे रहकर परिव्रजन-शील है, उसके लिए विधि कैसी और निषेध कैसा? सारांश यह कि जिसमें ज्ञाननिष्ठा आ गयी है, उसके लिए कहीं कोई कर्तव्यता नहीं रह जाती।

इन दो श्लोकों की व्याख्या करते हुए लोकमान्य तिलक ने यह तो माना है कि ज्ञानी के लिए कोई कर्तव्यता नहीं रह जाती, पर वे यह कहते हैं कि उसे 'अपने लिए' कोई कर्तव्यता नहीं रहती, तथापि दूसरों के लिए उसे कर्म करना चाहिए। वे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जब ज्ञानी के लिए करना और न करना दोनों बराबर हैं, तो उसे न करने का आग्रह ही क्यों हो? यदि वह कर्म करे, तो उससे उसका कुछ बिगड़ेगा नहीं, उल्टे वह जगत् का कल्याण करेगा। उसे लोक संग्रह के लिए, अन्य लोगों को रास्ता दिखाने के लिए कर्म करना चाहिए। तभी तो अगले श्लोक में भगवान् कृष्ण अर्जुन को कर्म करने के लिए ही कहते हैं।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

तस्मात् (इसलिए) असक्त. (अनासक्त होकर) सततं (सदा) कार्यं (करणीय, कर्तव्य) कम कर्म समाचर (सुचारु रूप से करता रह) हि (क्योंकि) असक्तः (अनासक्त हो) कर्म (कर्म) आचरन् (करता हुआ) पूरुषः (मनुष्य) परम् (परम पद) आप्नोति (पा लेता है)।

"इसलिए तू अनासक्त होकर सदैव अपने कर्तव्य-कर्म सुचारु रूप से करता रह, क्योंकि आसक्ति छोड़कर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पद को पा लेता है।"

यहाँ पर जो 'तस्मात्' इसलिए शब्द है, उसकी व्याख्या लोकमान्य तिलक ने यों की है कि जब तक ज्ञानी पुरुष कहीं से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखता,

'इसलिए' तू भी बिना किसी फल की अपेक्षा के, आसक्तिरहित होकर अपना कर्तव्य-कर्म कर। किन्तु उन्होंने 'तस्मात्' शब्द की यह जो व्याख्या की है, उससे पूर्व के दो श्लोकों से पूर्वापर सम्बन्ध ठीक जम नहीं पाता। ज्ञानी पुरुष तो आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट होने के कारण कर्म के प्रति उदासीन हो जाता है, पर अर्जुन की स्थिति ऐसी नहीं है। अतः दो असमान व्यक्तियों को एक ही प्रकार के कार्य की प्रेरणा देने के लिए 'तस्मात्' शब्द का प्रयोग सार्थक नहीं है। यदि अर्जुन भी आत्मा में रमण करनेवाला, आत्मा में ही तृप्त और सन्तुष्ट होता, तब तो 'तस्मात्' शब्द सार्थक हो सकता था। पर अपने मत के प्रति आग्रह होने के कारण तिलकजी इसे अनदेखा कर देते हैं। वैसे, इस सन्दर्भ से परे हटकर तिलकजी के मत को देखें, तो वह कोई गलत नहीं है। उन्होंने अपने कथन के प्रमाण में 'योगवासिष्ठ' और 'गणेशगीता' के जो उद्धरण दिये हैं, वे सभी सही हैं और अपने स्थान पर सटीक भी हैं। पर गीता के इस सन्दर्भ में उनकी व्याख्या उनके मताग्रह को ही अधिक प्रकट करती है।

'योगवासिष्ठ' में जब राम ने मुनि वसिष्ठ से पूछा, "अच्छा, बतलाइए, मुक्त पुरुष कर्म क्यों करे, उसे तो कर्म करने की कोई बाध्यता है नहीं?" तब मुनि ने उत्तर दिया—

> तस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः ।
> तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥ ६/उ०/१९९/४

—'ज्ञ यानी ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ने या उसका आश्रय लेने से कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए वह जब जैसा प्राप्त हो जाय, तब वैसा करता रहता है। फिर ग्रन्थ के अन्त में, उपसंहार में भी गीता की वही बात दुहरायी गयी है। वहाँ कारुण्य कहते हैं—

मम नास्ति कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
यथाप्राप्तेन तिष्ठामि ह्यकर्मणि क आग्रहः ।। ६/उ०/२१६/१४

—'मेरे लिए न तो करने का कोई प्रयोजन है और न न करने का। तथापि न करने का आग्रह ही क्यों करूँ ? जो मुझे विधिवत् प्राप्त होता रहेगा, वह मैं करता रहूँगा।' फिर 'योगवासिष्ठ' में ही जीवन्मुक्त के प्रसंग (६/उ०/१२५ ४९) में गीता का उक्त १८ वाँ श्लोक ही शब्दशः दुहराया गया है तथा आगे के श्लोक में कहा है—'यद्यथा नाम संपन्नं तत्तथाऽस्त्वितरेण किम्'—(जीवन्मुक्त को) जो प्राप्त हो, उसे ही किया करता है। इन उदाहरणों को देकर लोकमान्य तिलक ने समझाया है कि जब ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ देने से भी कोई लाभ या हानि नहीं है और कर्म करने से भी कोई लाभ या हानि नहीं, तब वह कर्म छोड़ने का आग्रह क्यों करे, वह अपना स्वभाव प्राप्त कर्म करता रहे। ज्ञानलाभ के पश्चात् भी तो उसे अपने प्रारब्ध का भोग करना ही पड़ेगा। भले ही ज्ञान के द्वारा संचित और क्रियमाण (आगामी) कर्म-संस्कार जल जाते हैं, पर प्रारब्ध का क्षय तो भोग से ही हुआ करता है। आचार्य शंकर 'विवेकचूड़ामणि' में (४५४) यही कहते हैं—

> प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः।
> सम्यग्ज्ञान हुताशनेन विलयः प्राक्सचितागामिनाम् ॥

यह उसी प्रकार है, जैसे पंखा चल रहा है और हमने स्विच बन्द कर दिया। इससे पंखा एकदम रुकेगा नहीं, बल्कि जब तक बिजली का दिया हुआ बल पंखे में रहेगा, तब तक वह घूमता रहेगा। ज्ञानलाभ बिजली के स्विच को बन्द करने के समान है और ज्ञानी का उसके बाद भी देहधारण मानो स्विच बन्द करने के बाद भी पंखे के घूमने के समान। यही प्रारब्ध की उपमा है। तो, तिलकजी का यह कहना है कि जब ज्ञानी प्रारब्ध का भोग करेगा ही, देह को चलाने के लिए आहारादि क्रिया करेगा ही, तब वह अन्य कर्मों से क्यों विमुख होगा? भले ही उसे अपने लिए किसी कर्म की कर्तव्यता न रह जाय, पर दूसरे के लिए, समाज के लिए, लोगों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के लिए उसे कर्म करना ही चाहिए।

तिलकजी ने यह जो मत प्रस्तुत किया है, वह व्यवहार की दृष्टि से उपयोगी होते हुए भी सिद्धान्त की दृष्टि से, विशेष करके इस स्थल पर, उतना सटीक नहीं है। कारण यह है कि, जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं, भगवान् ने अर्जुन को इस तीसरे अध्याय के तीसरे श्लोक में दो निष्ठाओं की बात कही है और यह स्पष्ट रूप से बताया है कि ये दोनों निष्ठाएँ उस परमतत्त्व को पाने के स्वतंत्र मार्ग हैं। दूसरे अध्याय के ३९वें श्लोक में भी उन्होंने इन दो निष्ठाओं की बात कही थी। प्रस्तुत

अध्याय में वे चौथे श्लोक से लेकर १६वें तक कर्मनिष्ठा की चर्चा करते हैं। १७वें और १८वें श्लोकों को छोड़कर अध्याय के शेष अन्य श्लोकों में भी कर्मनिष्ठा ही प्रदर्शित हुई है। यदि १७वें और १८वें श्लोकों को भी हम तिलकजी के अनुसार कर्मनिष्ठा का प्रतिपादक मान लें, तो ज्ञाननिष्ठा का कोई प्रकरण इस तीसरे अध्याय में नहीं रह जाता। फलतः उन्होंने अध्याय के प्रारम्भ में ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनों की जो बात कही थी, उसमें ज्ञाननिष्ठा का उल्लेख निरर्थक हो जाता है। तो क्या ऐसा मान लेना सही होगा कि भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा का निरर्थक ही उल्लेख किया है? बल्कि यही मानना उचित होगा कि जिस प्रकार उन्होंने इस अध्याय में कर्म-निष्ठा की चर्चा की है, उसी प्रकार ज्ञाननिष्ठा की भी की है। भले ही कर्मनिष्ठा की चर्चा विस्तार से हुई हो, पर ज्ञाननिष्ठा की चर्चा एकदम अछूती नहीं रही, यही मानना संगत होगा। ऐसी दशा में १७वें और १८वें श्लोकों को ज्ञाननिष्ठा का प्रतिपादक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। और ऐसा मानना कोई बलपूर्वक अथवा श्लोकों के अर्थ को खींच-तानकर या तोड़-मरोड़कर नहीं किया जा रहा है, प्रत्युत जो अर्थ इन दो श्लोकों से सामान्य रूप से ध्वनित होता है, उसी के आधार पर ऐसा किया जा रहा है। आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्म-सन्तुष्टि-ये ज्ञानी के ही लक्षण हैं। जैसे कर्मनिष्ठा कर्मयोगी के लिए एक स्वतन्त्र पथ है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयोगी

के लिए स्वतन्त्र रास्ता है। कर्मयोगी के लिए ज्ञानप्राप्ति के बाद भी लोकसंग्रह के रूप में कर्म की कर्तव्यता उचित हो सकती है, पर ज्ञानयोगी के लिए ज्ञानप्राप्ति के बाद कर्म की बाध्यता स्वीकार करना ज्ञान के स्वरूप पर ही आक्षेप है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगी सर्वथा अलग अलग प्रवृत्ति के होते हैं और सामान्यतः ज्ञानप्राप्ति के बाद भी ये प्रवृत्तियाँ बदलतीं नहीं। बात को समझने के लिए कहें—मान लीजिए दो साधक हैं राम और श्याम। राम की प्रवृत्ति में विचार और मनन की प्रधानता है, वह ज्ञानयोग को अपने लिए अधिक अनुकूल मानता है। पर इसका मतलब यह नहीं कि उसमें कर्म की प्रवृत्ति नहीं होगी। मतलब यह है कि उसमें विचार प्रधान होगा और कर्म गौण। श्याम की प्रवृत्ति में क्रियाशीलता अधिक है। वह कर्मयोग को अपने लिए श्रेयस्कर समझता है। उसमें विचार-मनन की भी वृत्ति है, पर कर्म की प्रधानता है। जब राम और श्याम दोनों को ज्ञानलाभ होगा, तब उसके पश्चात् राम के जीवन में कर्म की कर्तव्यता नहीं रह जायगी, जबकि श्याम के जीवन में वह बनी रह सकती है। तात्पर्य यह कि ज्ञानलाभ के पश्चात् कर्म की कर्तव्यता साधक की प्रवृत्ति पर अवलम्बित करेगी। तिलकजी का मत यह है कि ज्ञानलाभ के पश्चात् भी कर्म की कर्तव्यता राम और श्याम दोनों के ही जीवन में बनी रहेगी। यहीं पर उनका मताग्रह प्रकट होता है। उचित तो यही है कि ज्ञानलाभ के पश्चात् ज्ञानयोगी के लिए कर्म की कोई कर्तव्यता

नहीं रह जाय । यदि वह स्वतःस्फूर्त हो कर्म में प्रवृत्त होता है, तो वह उसकी मौज है। ज्ञानलाभ के पश्चात् भी यदि किसी प्रकार की बाध्यता उसके जीवन में रह जाय, तो उस मुक्ति का अर्थ क्या ? पर इसका यह अर्थ भी नहीं ले लेना चाहिए कि ज्ञानी सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने के कारण स्वैराचरण कर सकता है। नहीं, ज्ञानी समस्त बन्धनों से मुक्त तो है, पर उसके पैर कभी गलत लीक पर नहीं चलेंगे । वह नैतिक नियमों को मानकर चलता है ऐसा कहना उसकी ज्ञानानुभूति के साथ अन्याय करना होगा। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि उसकी प्रत्येक क्रिया से नैतिकता का मानदण्ड प्रकट होता है, उसके जीवन से नैतिकता की नैसर्गिक सुवास निकलती रहती है।

आचार्य शंकर तथा कुछ अन्य टीकाकारों ने १७वें और १८ वें श्लोकों को ज्ञाननिष्ठा का ही प्रतिपादक माना है और यह बताया है कि आत्माराम ज्ञानी के लिए कर्तव्यता का सर्वथा अभाव हो जाता है। वे १९वें श्लोक के साथ इन दो श्लोकों का सम्बन्ध बिठाने के लिए 'तस्मात्' शब्द को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। शंकराचार्य १८वें श्लोक पर अपने भाष्य में लिखते हैं--'न त्वम् एतस्मिन् सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीये सम्यग्दर्शने वर्तसे' --'अर्जुन, चूँकि तू इस सब ओर से परिपूर्ण जलाशय-स्थानीय यथार्थ ज्ञान में स्थित नहीं है', अर्थात् चूँकि तू अभी आत्माराम, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट नहीं हुआ है, 'तस्मात्'---इसलिए---अनासक्त होकर सर्वदा

कर्तव्य कर्मों का भलीभाँति आचरण कर।

यहाँ कर्म करने के लिए चार विशेषण बताये गये—(१) असक्तः (अनासक्त होकर), (२) सततं (सर्वदा), (३) कार्यं (कर्तव्य) और (४) समाचर (भलीभाँति आचरण कर)। हमें आसक्ति छोड़कर कर्म करना चाहिए। हम कर्म से न चिपकें। कर्म सत्य के पास पहुँचने का साधन है। हम ट्रेन से दिल्ली जा रहे हैं। दिल्ली पहुँचने पर ट्रेन को छोड़ दें, उससे चिपके न रहें। पर अनासक्त होकर कर्म करने का यह मतलब नहीं कि हम उपेक्षा-बुद्धि से कर्म करें। इसलिए सावधान कर दिया गया—'समाचर', अपने कर्म को अच्छी तरह सम्पन्न करो, पूरी लगन से करो, ध्यान रहे कि कर्म में कोई त्रुटि न आ पाए। और यह सावधानी एक-दो घण्टे की न हो, बल्कि सर्वदा ऐसी सावधानी बनाये रखकर कर्म करते रहो। इसका मतलब यह भी नहीं कि तुम आलतू-फालतू सब प्रकार के कर्मों में अपनी शक्ति नष्ट करो, बल्कि केवल 'कार्यं' का, कर्तव्य-कर्म का आचरण करो।

जब मनुष्य अपने कर्तव्य को ठीक ठीक समझकर उसकी पूर्ति के लिए सतत सावधानी रखता हुआ, अनासक्त होकर, ईश्वर-प्रीत्यर्थ कर्म करता है, तो वह मोक्ष-रूप परमपद को प्राप्त हो जाता है।

धर्म-परिवर्तन : समस्या और समाधान

स्वामी बुधानन्द

(विगत १८ अक्तूबर १९८१ को नई दिल्ली के बोट क्लब में डा० कर्णसिंह, संसद सदस्य, की अध्यक्षता में गठित 'विराट् हिन्दू समाज' द्वारा 'विराट् हिन्दू सम्मेलन' का आयोजन हुआ, जिसमें प्रत्यक्षदर्शियों के अनुसार, हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सनातनी, आर्यसमाज, जैन, बौद्ध, सिख आदि सभी सम्प्रदायों के १५ लाख से भी अधिक व्यक्ति उपस्थित थे। इस सम्मेलन को सभी सम्प्रदायों के धर्मगुरुओं ने सम्बोधित किया और विराट् हिन्दू समाज की मौलिक एकता का आह्वान किया। रामकृष्ण मिशन का प्रतिनिधित्व उसकी दिल्ली-शाखा के प्रमुख स्वामी बुधानन्द ने किया। उन्होंने इस अवसर पर जो भाषण दिया, वही प्रस्तुत लेख के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।—स०)

मीनाक्षीपुरम् में भारी संख्या में हिन्दुओं द्वारा मुस्लिम धर्म स्वीकार करने की घटना तथा उसके परिणामों ने हिन्दू समाज के लिए एक भारी समस्या उत्पन्न कर दी है। इस समस्या के समाधान के लिए सामाजिक चेतना से युक्त अनेक उदार संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा कई प्रयास किये जा रहे हैं।

यह विराट् हिन्दू सम्मेलन, जिसे आप भारत की राजधानी में देख रहे हैं, सनातन धर्म के माननेवालों के उत्साह का द्योतक है, जो इस समस्या का जितनी जल्दी हो सके समाधान खोजना चाहते हैं।

आपने अभी कुछ विशिष्ट धार्मिक नेताओं, विद्वानों और आचार्यों के ज्ञानसम्पन्न भाषण सुने, तथा औरों को भी सुनेंगे।

में आपके सामने इस समस्या पर रामकृष्ण मिशन के विचार प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा ।

रामकृष्ण मिशन की दृष्टि में इस समस्या का सम्यक् समाधान समस्या के सन्दर्भ में ही खोजना पड़ेगा।

ऋग्वेद शाश्वत धर्म का प्रमुख सिद्धान्त इन शब्दों में व्यक्त करता है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—सत्य एक है, जिसे ऋषि-मुनि अनेक नामों से पुकारते हैं। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में इसी सत्य पर जोर दिया है। आचार्य शंकर ने भी इसी भावना के अनुरूप हिन्दू धर्म के विभिन्न मतों में समन्वय किया है। आज के वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण ने इस आदर्श को अपने जीवन के माध्यम से प्रत्यक्ष करके दिखलाया है।

आज हमें इसी आदर्श की, इसी सिद्धान्त की सबसे अधिक आवश्यकता है, केवल भारत में ही नहीं बल्कि सारे संसार में। आज समस्त संसार को यह बात बताने की आवश्यकता है कि दुनिया के सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही है, वह है—'भगवान् की अनुभूति कराना'। इस आदर्श को ही भारत युग-युगों से पुष्ट करता आ रहा है। इसलिए जो भाव इस आदर्श के विपरीत हो, भारत उसे स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि देश की उन्नति में तो वह बाधक होगा ही, और जातीय जीवन में भी भेद-भाव की भावना उत्पन्न करेगा।

हमारे इसी महान् सिद्धान्त के कारण पारसी और यहूदी हमारे देश में आये तथा भारतवासियों की तरह

बस गये और अपने अपने धर्म का उन्होंने बिना किसी हस्तक्षेप के पालन किया।

हिन्दू लोग भारत में दूसरे धर्मों के माननेवाले लोगों से यह आशा करते हैं कि वे सब भी हिन्दू धर्म के इस महान् आदर्श का आदर करेंगे, क्योंकि किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप हिन्दुओं को स्वीकार्य नहीं होगा तथा वह प्रतिक्रिया को जन्म देगा। यदि विभिन्न धर्मों के माननेवाले हम सब लोग एक राष्ट्र के रूप में मिलकर रहना चाहें, तो इस आदर्श की बहुत आवश्यकता है।

रामकृष्ण मिशन धर्म-परिवर्तन की समस्या को इसी सन्दर्भ में देखता है। वह ऐसे मानव समाज की स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक धर्म के माननेवाले बिना किसी के हस्तक्षेप के अपने धार्मिक विश्वासों के अनुरूप अपने धर्म का पालन कर सकें तथा वे स्वयं भी किसी दूसरे के धर्म में हस्तक्षेप न करें।

मीनाक्षीपुरम् ने जो समस्या प्रस्तुत की है, उसने हिन्दुओं को अपने हृदय को टटोलने पर मजबूर किया है। और हिन्दुओं में ऐसा करने की हिम्मत होनी भी चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—'बुराई के कारण को बाहर खोजने की अपेक्षा अपने अन्दर खोजना चाहिए'। रोग शरीर पर तभी आक्रमण करता है, जब वह कमजोर होता है। स्वस्थ और मजबूत शरीर पर रोग हमला नहीं कर सकता। हिन्दू

समाज भी अनेक मतभेदों, अन्धविश्वासों तथा कुसंस्कारों के कारण दुर्बल हो गया है। पर ये सब बुराइयाँ हिन्दू धर्म का अंग नहीं हैं, वे तो बाहर से आकर इससे चिपक गयी हैं। उसकी इसी कमजोरी और एकता की कमी ने हिन्दू समाज तथा धर्म को बहुत क्षति पहुँचायी है तथा इसी कारण हम पर बाहर से आक्रमण भी हुए हैं। अतः हिन्दू समाज को मजबूत बनाना होगा, उसमें एकता लानी होगी, तब सब ठीक हो जाएगा और फिर कोई भी इसकी तरफ हाथ उठाने का साहस नहीं कर सकेगा।

जिन लोगों ने धर्म-परिवर्तन किया है, उनके तड़पते हुए बयान पढ़िए कि उन्होंने इसलाम धर्म क्यों स्वीकार किया ? उन सबने तीखी शिकायत की है कि हिन्दू समाज की अमानुषिक, क्रूर तथा अपमानजनक छुआछूत ने ही उन्हें मुस्लिम धर्म स्वीकार करने पर मजबूर किया।

इतिहास के इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि शताब्दियों तक हरिजनों को हिन्दू समाज ने एकदम रौंदकर रखा और उन पर अमानुषिक अत्याचार किये। अतएव धर्म-परिवर्तन की समस्या को सुलझाने का सर्वोत्तम उपाय है—'भारत में छुआछूत के कलंक को सदा के लिए पूरी तरह से मिटा देना'।

रामकृष्ण मिशन पूछता है : क्या आप और आपके मित्र छुआछूत की इस गन्दी प्रथा को तथा हरिजनों पर

किये गये दुर्व्यवहार को दूर करने के लिए हिन्दुओं को संगठित कर सकते हैं ? क्या आप उन्हें अपने घरों और मन्दिरों में प्रवेश की आज्ञा दे सकते हैं, तथा कुओं और तालाबों का उपयोग करने की स्वतंत्रता दे सकते हैं। जो उन्हें वर्षों से नहीं मिली है ? क्या आप जनता के माध्यम से हिन्दुओं में जागृति लाने की कोशिश करेंगे तथा छुआछूत को दूर करने की आवश्यकता पर बल देंगे और उन्हें बताएँगे कि यह बुराई कितनी आत्मघाती सिद्ध हुई है ?

हमने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि धर्म-परिवर्तन करनेवाले कुछ व्यक्तियों ने धर्म-परिवर्तन से पहले अपने कष्टपूर्ण जीवन का मार्मिक वर्णन किया है और यह बताया है कि उन्हें उनके अपने ही गाँव में कुछ व्यक्तियों द्वारा किस प्रकार सताया गया तथा जो सुविधाएँ उनके लिए थीं, वे कैसे उनतक नहीं पहुँच पायीं ? यदि यह सत्य है, तो क्या आप तथा आपके मित्र अपने क्षेत्र में ऐसे सताये गये व्यक्तियों को अन्याय तथा उत्पीड़न के विरुद्ध संरक्षण नहीं दे सकते ? क्या आप इस बात की कोशिश नहीं कर सकते कि जो सुविधाएँ उनके लिए हैं, वे उन तक ठीक प्रकार से पहुँच जायँ ?

पिछड़े वर्ग के लोगों, आदिवासियों तथा विशेष रूप से हरिजनों को भौतिक, आर्थिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक स्तरों पर ऊँचा उठाया जाना चाहिए। उन्हें दृश्य-श्रव्य साधनों, वार्ताओं, भाषणों, हरिकथाओं,

नाटकों आदि के द्वारा संस्कृति तथा धर्म के बारे में जानकारी तथा उचित शिक्षा दी जानी चाहिए। उन्हें स्वास्थ्य, सफाई और अच्छे रहन-सहन के बारे में भी उचित जानकारी दी जानी चाहिए।

हरिजनों के प्रति हमारा सबसे बड़ा कर्तव्य यह है कि उन्हें दस्तकारी, कुटीर उद्योगों आदि का प्रशिक्षण देकर उनकी आर्थिक दशा सुधारी जाय, जिससे वे गरीब न रहें। आज इसी बात की सर्वाधिक आवश्यकता है।

'कोई भी धर्म खाली पेटवालों के लिए नहीं है' —श्रीरामकृष्णदेव ने कहा है। अतएव प्रत्येक हिन्दू का यह पावन कर्तव्य है कि वह अपने सभी सह-धर्मियों की —विशेष रूप से गरीबों और पिछड़ी जातियों (जैसे वनवासी, हरिजन, गिरिजन आदि) की—आर्थिक दशा सुधारने की पूरी कोशिश करे, और ऐसा करने के बाद उनमें अपने नैतिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक विचारों का प्रसार करे।

संक्षेप में, हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाज के निम्न से निम्न व्यक्ति को भी धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को प्राप्त करने का अधिकार और सुविधाएं मुहैया की जायं और यही मीनाक्षीपुरम् की समस्या को हरदम के लिए सुलझाने का वास्तविक तरीका होगा।

●

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (४)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बंगला मासिक 'उद्बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है। --स०)

अल्मोड़ा

१३ नवम्बर १९१५

प्रश्न-- मन में दूसरे विचार आते हैं, उन्हें कैसे हटाया जाय ?

उत्तर-- प्रभु का विचार जितना अधिक करोगे, दूसरे विचार उतने ही दूर होते जाएँगे। ठाकुर कहते थे, तुम पूर्व की ओर जितना अग्रसर होगे, पश्चिम दिशा उतनी ही पीछे होती जायगी। गंगा का प्रवाह जिस प्रकार द्रुत गति से बहा जा रहा है, उसी प्रकार तुम्हारे मन का प्रवाह भी प्रभु की ओर द्रुत गति से बहने लगेगा। कुछ दिन तक यदि इस तरह चला सको, तो बस, फिर अपने आप ही चलेगा।

मन के पटल पर बड़े बड़े अक्षरों में लिख दो --'No Admission' (प्रवेश निषेध) ! आगे चलकर जीवन में एक ऐसा समय आयगा, जब तुम कह सकोगे --'Come one and all' (सभी जन आओ)। मैं कमरे का दरवाजा खुला रखता हूँ इसीलिए तो लोग आते हैं, यदि बन्द रखूँ तो लोग कैसे आएँगे ? मन में दूसरे

विचार क्यों आने देते हो ? तुम उन्हें आने देते हो इसी से तो वे आते हैं !

प्रथम अवस्था में केवल जप-ध्यान नहीं कर सकोगे। इसीलिए भिन्न भिन्न रूपों में आस्वाद लेना होगा। पर उसी एक वस्तु का आस्वाद हो, अन्य वस्तु का नहीं। थोड़ा जप, थोड़ा ध्यान, थोड़ा पाठ, थोड़ा भजन-गान —इस तरह भिन्न भिन्न प्रकार से प्रभु ही का चिन्तन करना होगा। कुछ दिन ऐसा करने के बाद निरन्तर 'एक' ही चिन्तन करने में समर्थ होगे। केवल जानने से नहीं होगा, प्रत्यक्ष करना होगा। हम लोग जानते तो सब कुछ हैं, पर करते कुछ नहीं। स्वामीजी कहते थे, 'हम लोग इतना ज्यादा जानते हैं कि इससे कुछ कम जानते तो अच्छा होता।' कुछ करो, करो, करो ! कोई कुछ नहीं कर सकेगा। तुम्हें स्वयं ही को श्रम करना होगा; दूसरा कोई तुम्हारे लिए नहीं कर सकेगा। एक श्लोक में है —'तुम्हारा बोझ दूसरा व्यक्ति उतार दे सकता है, परन्तु भूख लगने पर खाना तो तुम्हें स्वयं खाना पड़ेगा, दूसरे किसी के खाने से नहीं चलेगा।'[१]

ठाकुर गाया करते थे—

'जले कि रत्न मिले ?

मन करो प्राण अवधि।

---

१. 'मस्तकन्यस्तभारादेः दुःखमन्यैर्निवार्यते।
क्षुधादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित्॥' (विवेकचूडामणि, ५४)

डूब दाओ अगाध जले
सहज मानुष धरबे जदि ॥'[२]

एक समय हम लोगों ने खूब मेहनत की। अभी भी ऐसा अभ्यास है कि थोड़ा मन लगाते ही वह चीज फिर से लौट आती है।

१७ नवम्बर १९१५

किसी ने प्रश्न किया—"इन्द्रियों को कैसे मोड़ा जाय ?"

उत्तर में तुरीयानन्दजी ने कहा, "मुझे क्या पता ?" इतना कहकर वे थोड़ी देर तक चुप, बैठे रहे; फिर उन्होंने ये तीन गीत गाये :—

(१) 'नामेरि भरसा केवल श्यामा गो तोमार।'[३]
(२) 'श्रीदुर्गानाम भूलो ना।'[४]
(३) 'केनो मन भूलो श्रीदुर्गा बोलो।'[५]

मालिश हो चुकने के बाद स्वामीजी उठ बैठे और कहने लगे—

"बीच बीच में बातचीत बन्द करके खूब डटकर प्रभु का नाम जप सकते हो ? देखो, बिलकुल ही कुछ न

२. 'हे मन, क्या जल में इतनी आसानी से रत्न मिल जाता है ? इसके लिए प्राणों की बाजी लगाकर गहरे पानी में गोता लगाओ। यदि तुम्हें 'सहज मानुष' (यथार्थ स्वरूप) को जानना हो, तो यही उपाय है।'

३. 'हे श्यामा, मुझे केवल तुम्हारे नाम का ही भरोसा है।'

४. 'श्रीदुर्गानाम मत भूलना।'

५. 'हे मन, भला बता तू श्रीदुर्गामाता को क्यों भूल जाता है ?'

रहने पर कुछ जमाया नहीं जा सकता। जो रोज की कमाई रोज खाता है, वह कुछ जमा नहीं पाता। परन्तु एक बार यदि कड़ी मेहनत करके कुछ जमा कर लिया जा सके, तो बाद में वह बड़ी तेजी से बढ़ने लगता है। धर्मजगत् में भी यही बात है। कुछ दिन खूब मेहनत करके कुछ जमा लो। खाते, सोते, उठते, बैठते—सब समय प्रभु का नाम जपो। बातचीत बन्द करके सतत इसी में लगे रहो। ठाकुर कम्पास (कुतुबनुमा) के काँटे का उदाहरण देते थे। वह काँटा सदा उत्तर ही की ओर रहता है। अगर कोई हाथ से पकडकर दूसरी ओर घुमा भी दे तो हाथ हटाते ही फिर उत्तर की ओर आ जाता है। तुम्हारा मन भी ऐसा ही बन जायगा। यदि कोई आकर दूसरी ओर घुमा भी दे, तो उसके छोड़ते ही फिर भगवन्नाम का जाप चलने लगेगा। देखो न, इतनी देर तुमसे बातचीत हो रही थी। ज्योंही चुप हुआ कि मन ही मन गाना चलने लगा—'केनो मन भूलो, श्रीदुर्गा बोलो'—जो पहले चल रहा था। तुम्हें समझाने के लिए अपनी बात कही। बड़े गुप्त रूप से जप करना, ताकि कोई जान न पाये।

"लोग कहते हैं, प्रभु की जो इच्छा होगी, वही होगा। अरे, उनकी इच्छा क्या ऐसे ही हो जायगी? पहले उड़ने के प्रयास में तुम्हारे डैने तो कुछ दुखने लगें, तभी तो मस्तूल पर आकर बैठोगे।"

प्रश्न—उनका नाम कैसे लिया जाय?

उत्तर—भावपूर्वक करो, और क्या ? 'मैं सन्तान, तुम माँ ।' मैं उनका नाम ले रहा हूँ । जिस प्रकार मेरे साथ बातचीत कर रहे हो, उसी प्रकार उनके साथ बातचीत करना । वे अन्तर्यामी हैं—तुम्हारे अन्दर ही विराजमान हैं ।

प्रश्न—क्या प्रार्थना भी करूँ ?

उत्तर—हाँ, प्रार्थना भी ख़ूब करना । दूसरी कोई प्रार्थना नहीं, केवल प्रभु में मन लगा रहे, उन्हें न भूलूँ, यही प्रार्थना । उनसे क्यों नहीं कहोगे ? जरूर कहना—'भला मैं तुम्हें क्यों भूलूँ ? तुम्हें पुकारूँगा इसीलिए तो सब कुछ छोड़ा है । कृपा करके तुम्हें भूलने मत दो ।'

प्रश्न—भजन भी करूँ न ?

उत्तर—हाँ, इसी तरह का भजन । वरना नीरस एकांगीपन महसूस हो सकता है । परन्तु पहले-पहल जप ही की ओर अधिक ध्यान देना । एक एक करके अभ्यास करना होगा ।

"खूब लगे रहो । मन को एक बार काबू में ले आ सकने पर फिर चिन्ता किस बात की ? यह दुष्ट मन ही तो सब गड़बड़ करता है । हाथों से काम करना, मन में सतत उनका नाम जपते रहना । सिर्फ़ जीभ नाम का उच्चारण करती रहे और मन बैंगन तोड़ता रहे, ऐसे से नहीं होगा । जीभ और मन दोनों एक साथ उनका नाम जपें । इसी का नाम है मन और मुख एक करना । मानस जप ही अच्छा है ।"

प्रश्न—लोगों के साथ मिलने से सब गड़बड़ हो जाता है।

उत्तर— जब तक मन ठीक नहीं होता, लोकसंग मत करना। बाद में अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर लोकसंग करने से भी नुकसान नहीं।

"हमें जो करना था, सो हमने खूब किया, अब तुम लोग करो तो भला। हम लोग और कुछ दिन जीवित रहते हुए यह देखें। उस समय में उसी एक भाव में रहता था। अभी भी आनन्द में हूँ। तुम लोगों का भी संग हो रहा है।

"प्रभु को पुकारना भी तो एक महत्त्वपूर्ण काम है। साढ़े सोलह आना मन लगाकर उन्हें पुकारना चाहिए। पुकार-पुकारकर उन्हें बेचैन कर डालो। बच्चा जब थोड़ा थोड़ा रोता है, तब माँ नहीं आती। जब जोर से रोने लगता है, किसी तरह नहीं रुकता, तब माँ आकर उसे गोद में लेती है।

"सब उन्हीं की इच्छा से हो रहा है—

'जश अपजश सुजश कुजश
सकलि माँ तोमारि।
रसे थेके रसभंग
करो केनो रसेश्वरी।'[६]

"मेरी बीमारी के बारे में सुन रामदयाल बाबू[७]

---

६. यश अपयश ओ' सुयश-कुयश सब लीला है माँ तेरी।
रस में रहकर रंग-भंग क्यों करती तू रसेश्वरी॥

७. 'उत्सव' पत्रिका के सम्पादक रामदयाल मजूमदार।

बोले, 'कर्मफल है।' मैं एकदम बोल उठा, 'तुम्हीं कर्म धर्माधर्म . . .।' दुर्गासप्तशती में है—कर्म-वर्म जो कुछ है, सब उन्हीं के कारण हो रहा है। एकमात्र वे ही अनादि-अनन्त हैं। उनके अलावा और भी कुछ अनादि है क्या? लोगों को समझाने के लिए यह सब कहना पड़ता है—कर्म अनादि है, वगैरह। रोग-भोग, अच्छा-बुरा सब उन्हीं की इच्छा से आता-जाता है। यही है सिद्धान्त। वे जिसे समझाते हैं, वही समझता है। तुम अगर 'नाहीं' करो, तो मुझमें सामर्थ्य नहीं कि तुम्हें समझा सकूँ।

"कोई भी इच्छा नहीं करनी चाहिए। कुछ दिनों से देख रहा हूँ कि मैं जो इच्छा करता हूँ वही हो जाता है। तीन बार scraping (घाव की खुरचाई) कराने के बावजूद कोई लाभ न होता देख मन में विचार उठा—सुरेश भट्टाचार्य आये तो अच्छा हो। तत्काल मन ने कहा—आयगा। और देखो, सचमुच वह आ गया। इसी प्रकार और भी कुछ कुछ बातें देखीं। सब उन्हीं की इच्छा से हो रहा है। पर इसकी एक अनुभूति होनी चाहिए। केवल विचार से कुछ नहीं होता। वही हमारा resting place (विश्राम-स्थल) है। कहीं धक्का-वक्का खाने पर हम वहीं जाकर शक्ति पाते हैं।

"साधन-भजन आखिर है क्या?—एक वस्तु है, उसके साथ अपने को identify (एकरूप) कर लेना। दो तो हैं नहीं, एक ही है। एक को जानना ही ज्ञान है, अनेक जानना अज्ञान। स्वयं को उनसे अलग कर लेने

के कारण ही हम लोग इस तरह गड़बड़झाले में आ फँसे हैं। स्वयं को उनके हाथों छोड़ देने से ही शान्ति है। शान्ति और कहीं नहीं है। उनकी ओर जितना अग्रसर होगे, उतनी ही शान्ति पाओगे। अन्त में उन्हीं में rest (विश्राम) लेना होगा। तुम क्या अलग हो? अलग सोचने पर ही अलग हो। वरना तुम तो 'वही' हो। हार-जीत सब उन्हीं के हाथ में है।"

एक व्यक्ति को पत्नी-वियोग हुआ था। उसे खूब सान्त्वना देते हुए स्वामी तुरीयानन्द बोले—

"प्रभु का चिन्तन कीजिए। ठाकुर का एक किस्सा सुनिए। एक आदमी का लड़का हैजे से मर गया। रात भर जगने के कारण उस आदमी को उस समय कुछ नींद लग गयी थी। उसकी स्त्री ने उसे जगाते हुए कहा, 'तुम कितने निठुर हो! थोड़ा रोते भी नहीं? निश्चिन्त होकर सो रहे हो!' वह आदमी नींद में सपना देख रहा था कि वह राजा बन गया है, उसके एक रानी और दस बेटे हैं, आदि। इससे वह बोला, 'थोड़ा ठहरो, सोचकर देखूँ कि मैं किसके लिए रोऊँ— तुम्हारे उस एक बेटे के लिए या मेरे उन दस बेटों के लिए?' "

फिर महाराज बोले—"शैतान और भगवान् के झगड़े की बात सुनो। एक भक्त को लुभाने के लिए भगवान् ने शैतान को भेजा, क्योंकि शैतान बड़ी डींग मार रहा था। शैतान भक्त के पास जाकर कहने लगा, 'मुझे

भजो। मैं तुम्हें खूब धन-दौलत दूँगा।' भक्त बोला, 'शैतान, यहाँ से दूर हो जा!' तब शैतान ने एक एक करके उस भक्त का सब कुछ नष्ट कर डाला। उसके बाल-बच्चों को मार डाला। अन्त में भक्त को कोढ़ हो गया। तब फिर शैतान उसे प्रलोभन दिखाने लगा। इस पर भक्त ने कहा, 'भगवान् स्वयं ही देते हैं, फिर ले लेते हैं। उन्हीं की इच्छा पूरी हो!'

"किसी के अधिकार के बीच नहीं पड़ना चाहिए। उन्हें इस प्रकार पुकारना चाहिए, जिससे कोई जान न पाये। दस लोग जान पाते ही तुम्हारे पीछे लगेंगे और तुम्हारा समय बरबाद करेंगे। उससे स्वाधीनता भी चली जाती है।"

२७ दिसम्बर १९१५

स्वामी तुरीयानन्दजी कह रहे हैं—

"'सन्त वही जो रासरस चाखै।' तुलसीदासजी ने कहा है—संसार में चार ही वस्तुएँ सार हैं—'साधु-संग, हरिकथा, दया, दीन-उपकार।'

"संग ही से तो सब कुछ है। 'संगात् संजायते कामः।' Tell me what company he keeps and I will tell you what he is! (यदि तुम मुझे यह बता दो कि वह किन लोगों का संग करता है, तो मैं तुम्हें बता दूँगा कि वह कैसा है।) साधुसंग से मन शुद्ध होता है। पर हाँ, वह ठीक ठीक साधु हो तभी; केवल भेष-धारी होने से कोई साधु नहीं हो जाता। साधु वही

है, जिसने भगवान् को अपना बना लिया है। भगवान्-लाभ होने पर 'जगदिदं नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।' "[८]

स्वामी तुरीयानन्दजी रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी की 'वैज्ञानिक जगत्' पुस्तक पढ़ रहे थे। उसके सन्दर्भ में कहने लगे—

"इन्होंने यही दिखाया है कि 'survival of the fittest' theory (बलिष्ट-अति-जीविता सिद्धान्त) के अनुसार सभी विकसित हो रहे हैं। हाँ, amoeba (अमीबा) से मनुष्य बनते तक यह theory (सिद्धान्त) अवश्य true (सत्य) है, क्योंकि इतने दिन स्वार्थ ही प्रधान लक्ष्य था; परन्तु मनुष्य बन जाने के बाद और एक theory (सिद्धान्त) जारी हो जाती है, क्योंकि अब लक्ष्य भगवान् बन जाता है। अब स्वार्थ को जो जितना अधिक भूल सकेगा, वह उनकी ओर उतना अधिक अग्रसर होगा।

"स्वामीजी (विवेकानन्दजी) ने मुझसे कहा था, 'एक तो वैसे ही संसार का कुछ समझ में नहीं आता। उस पर किसी तरह जीवनभर प्राणान्तक श्रम करने के बाद ज्योंही लगने लगा कि कुछ समझ में आया है और वह ज्ञान संसार को देने की सोचने लगा त्योंही भगवान् ने कहा—चला आ, चला आ। देने की कोई जरूरत नहीं। माया की इच्छा नहीं कि खेल खत्म हो।'

---

८. 'यह जग मानो नन्दनवन बन जाता है और सभी वृक्ष कल्पवृक्ष।'

"जब सारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) ने मठ छोड़कर घर लौट जाना चाहा, तो महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) उसे समझाने लगे, 'क्यों जायगा? नरेन (स्वामी विवेकानन्द) को छोड़ कहाँ जायगा? इतना प्रेम और कहाँ मिला है? वैसे मैं भी चाहूँ तो घर जाकर रह सकता हूँ। फिर भी मैं यहाँ क्यों पड़ा हूँ?—एकमात्र नरेन के इस प्रेम के कारण!'

"अण्डे देने के बाद नागिन उस पर फेंटी मारे फन निकालकर बैठी रहती है। पर जब अण्डे फूटकर बच्चे निकलने लगते हैं, तो वह एक एक करके उन्हें खाती जाती है। जो बच्चा चटखकर दूर निकल जाता है, वही बच पाता है। इसी प्रकार महामाया भी जगत्-प्रसव कर उस पर फन निकाले बैठी हुई है। जो चटखकर उससे दूर भाग सकता है, वही बच पाता है।"

•

आये हैं एक नये मानव

(बँगला गीत का भावानुवाद)

धुन—बाउल : ताल—एकताल

आये हैं एक नये मानव
देखोगे तो चलो चलें।
विवेक औ' वैराग्य झोले
दो कन्धों से सदा झूलें ॥ध्रुव॥

मुख से वे तो माँ माँ कहते
गिर पड़ते हैं गंगा में ।
ब्रह्ममयी तूने तो दर्शन
दिये नहीं इस जीवन में ॥१॥
नास्तिक अज्ञों को सिखलाया
सहज सरल अति शब्दों में ।
जो है काली वही कृष्ण है
अन्तर है बस नामों में ॥२॥
एकवा वाटर पानी वारि,
इक जल के ये सारे नाम ।
अल्ला गॉड ईसा मूसा
काली सब उसके ही नाम ॥३॥
दीन धनी मानी ज्ञानी
जाति न कुल का किया विचार ।
होकर आत्मविभोर सभी पर
की उनने तो कृपा अपार ॥४॥
दोनों बाहु उठाके पुकारें
आओ रे तुम सब आओ ।
तुम लोगों पर कृपा करने
बैठा हूँ आओ आओ ।
बड़े जतन से बाँधी नौका
भव तट पर आओ आओ ॥५॥

●

अर्ध कुम्भमेला शिविर १९८२

एक अपील

आगामी वर्ष सन् १९८२ में प्रयाग के पवित्र त्रिवेणीतट पर अर्धकुम्भ के स्नान का महान् पर्व पड़ रहा है, जिसमें ९ जनवरी से ९ फरवरी तक अर्थात् एक महीने के समय में विभिन्न पुण्य पर्वों के अवसर पर स्नान तथा कल्पवास करने हेतु देश के विभिन्न प्रान्तों से तथा विदेशों से भी लाखों तीर्थयात्री तथा सन्त-महात्माओं का आगमन प्राय: सुनिश्चित है। इस बार विशेष-कर पुनीत माघ मास में तथा अर्धकुम्भ के अवसर पर अमावस्या सोमवती होने के कारण अत्यधिक भीड़ होने की सम्भावना है। अत: आनेवाले तीर्थयात्रियों तथा सन्त-महात्माओं की सुविधा तथा स्वास्थ्य-रक्षा को दृष्टि में रखते हुए, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, प्रयाग ने इस बार भी, अन्य अवसरों की भाँति, उक्त मेलास्थल पर धर्मार्थ एलोपैथिक तथा होमियोपैथिक चिकित्सा-लय एवं औषधालय तथा प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र खोलने का निश्चय किया है, जिससे तीर्थयात्रियों एवं सन्त-महात्माओं के लिए नि:शुल्क चिकित्सा तथा औषधि-वितरण की उचित व्यवस्था हो सके। उपर्युक्त कार्य को सुचारु रूप से सम्पादित करने हेतु सुयोग्य चिकित्सकों (डाक्टरों), कम्पाउन्डरों तथा स्वयंसेवकों की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त उक्त शिविर में प्राय: ४०० भक्तों तथा यात्रियों की तथा १०० सन्त-महात्माओं के ठहरने की व्यवस्था भी की जाएगी।

उपर्युक्त व्यवस्था के अतिरिक्त इस मेले के मुख्य उद्देश्य—'धार्मिक तथा आध्यात्मिक उत्थान'—के दृष्टिकोण से भी हमने इस शिविर में एक मन्दिर तथा सन्त-महात्माओं के नित्यप्रति प्रवचन के आयोजन हेतु एक विशाल पंडाल की भी व्यवस्था की

है, जहाँ बैठकर सज्जनवृन्द उनके शिक्षाप्रद उपदेशों को श्रव॰ कर सकेंगे।

इन सब कार्यों में प्राय: एक लाख रुपया व्यय होने सम्भावना है। अत: रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, प्रयाग आप स बन्धुओं से अपील करता है कि इस पुनीत कार्य के लिए अ यथाशक्ति दान देकर इस महान् कार्य को सुलभ बनाने में हम ३ सहायता करें। आपका यह दान, नगद या अन्य किसी भी प्र में, क्रास्ड चेक या ड्राफ्ट द्वारा निम्नांकित पते पर सधन्य स्वीकार किया जाएगा :--

१. सेक्रेटरी, रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम,
मुट्ठीगंज, इलाहाबाद--२११००३ (उ. प्र.)
२. जनरल सेक्रेटरी, रामकृष्ण मिशन,
पो. बेलुड़ मठ, जि. हवड़ा, प. बंगाल--७११२

कृपया क्रास्ड चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्र इलाहाबाद' के नाम काटकर रजिस्टर्ड पोस्ट से भेजें।

स्वामी तत्त्वबोधानन्द

सेक्रे,

नोट: (१) विशेष जानकारी के लिए सेक्रेटरी, रामकृष्ण मि सेवाश्रम, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद--२११००३ को लिख की कृपा करें।

(२) रामकृष्ण मिशन को दिया हुआ दान आयकर विभा की धारा ८० जी सन् १९६१ के क्रमांक Assm 562/CT/8E/109/69-70 के अन्तर्गत आयकर मुक्त होगा।

०